THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182079

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—67—11-1-68—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81 S25K Accession No. 1H182

Author शास्त्री, जितेन्द्र भारतीय तथा रतेश शास्त्री.

Title कवि सेनापति, 1956.

This book should be returned on or before the date last marked below.

कवि-सेनापति

(काव्य-समीक्षा)

लेखक
साहित्याचार्य जितेन्द्र भारतीय शास्त्री
साहित्यरत्न काव्यमनीषी
तथा
श्री रत्नेशभट्ट शास्त्री

प्रकाशक
नवयुग ग्रंथागार
छितवापूर रोड, लखनऊ

प्रथमबार १९५६ मूल्य ४)

मुद्रक : मेक्सवल प्रेस, लखनऊ ।

"विराजतां सा जननी सरस्वती"

दो शब्द

प्रस्तुत रचना का ध्येय कविवर सेनापति के काव्य की गम्भीर विवेचना करना है। सेनापति के काव्य और जीवन के सम्बन्ध में एक तो बहुत कम सामग्री मिलती है, और जो कुछ मिलती भी है उसमें जिस भांति विवेचना करनी चाहिए वैसी नहीं मिलती। इन सब बातों को ध्यान में रखकर हमने इस पुस्तककी रचना की। इसमें दी हुई विवेचना से उच्च कक्षा के छात्रों का ज्ञान संवर्धन होगा तथा विद्वानों के सामने सेनापति के काव्य के वे तथ्य उपस्थित होंगे जिनके कारण सेनापति की हिन्दीसाहित्य में मान्यता है।

पुस्तक गम्भीर मनन अध्यवसाय एवं परिश्रम के साथ लिखी गई है, यह बात पुस्तक के अध्ययन से स्वतः ज्ञात हो जायगी। कवि जीवन के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसे तथ्य दिये गये हैं जिन से कवि के नाम, उपनाम और जन्मस्थान का नवीन दृष्टिकोण सामने आता है। सामग्री सर्वथा नवीन और मौलिक दी गई है। इसके लिए अनेक विद्वानों के ग्रन्थों का अध्ययन मनन करना पड़ा। हम उन विद्वानों के हृदय से आभारी हैं जिनके ग्रंथों के अध्ययन से हमें सहायता मिली है। अपनी मौलिकता के कारण यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी एवं उपादेय होगी ऐसी हमारी धारणा है। अधिक क्या–

विद्वान्नेव विजानाति विद्वज्जन परिश्रमम्,
नहि वन्ध्या विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम्।

"मैक्सवेल कम्पनी लिमिटेड" के मैनेजिंग डाइरेक्टर श्रीमान् बी० आर० भाटिया, एम्-ए., एल एल-बी., जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का भार उठाकर स्वल्प समय में ही इसे छापकर तैय्यार किया, धन्यवाद के पात्र हैं।

संशोधन-सम्बन्धी गुरुतर-भार उठाकर विविध-शास्त्र-मर्मज्ञ पं० भौमदत्त जी दीक्षित वैद्य ने जो सहायता की उसके लिये हम उनके आभारी हैं।

लेखक

सरस्वती के पावन मन्दिर में
अनर्घ-रत्न समर्पित करनेवाले
पूतात्मा सहृदय
कवि सेनापति को ही सादर.....।

लेखक

२०-३-५४
होलिकापर्व

विषयानुक्रम

	विषय	पृ. सं.
१	रीतिकाल—काल निर्धारण	१
२	साहित्य में कलाकार का व्यक्तित्व	३
३	राजनीतिक चेतना	६
४	सामाजिक चेतना	११
५	धार्मिक चेतना	१५
६	मुगलकाल में कला	१७
७	रीति-वक्रोक्ति और ध्वनि	२०
८	रस एवं शैली	२३
	विभाव—अनुभाव—संचारी—रस—उत्पत्तिवाद—अनुमितिवाद—भुक्तिवाद—अभिव्यक्तिवाद—मधुमतीवाद-भूमिका और साधारणीकरण—शैली—अलंकार	
९	रीतिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ और सेनापति	२८
१०	प्रकृति-चित्रण की परम्परा	३१
११	साहित्य-परम्परा और कवि सेनापति	४१
	परिस्थिति—युग—ध्वनि सम्प्रदाय	
१२	भट्ट नागेश दीक्षित और कवि सेनापति	४५
	नागेश जी के समय की स्थिति—सेनापति के समय की स्थिति—समानता—ऐक्य सम्भावना—हिन्दी की ओर झुकाव	
१३	अभिव्यंजना रसतरंगानुदान (रस)	५३
	नव रस विवेचन	

	विषय	पृ. सं.
१४	सेनापति के काव्य की भाषा	७१
	लक्षणामूलक व्यञ्जना—वस्तु ध्वनि निषेध में विधि—विधि में निषेध—कारक प्रयोग—सर्वनाम—संख्यावाची प्रयोग—अव्यय—विदेशी शब्द	
१५	कवित्तरत्नाकर में अलंकार प्रयोग	८४
	शब्दालंकार—अनुप्रास—यमक—वक्रोक्ति—अर्थालंकार—अर्थ श्लेष—उपमा—रूपक—अनन्वय—सन्देह अलंकार—भ्रान्तिमान—उत्प्रेक्षा भेद सहित—अतिशयोक्ति के भेद—प्रतीप—उल्लेख—विरोधाभास—व्यतिरेक—समासोक्ति—अर्थान्तरन्यास—प्रौढ़ोक्ति—संसृष्टि—संकर—चित्रालंकारों की छाया	
१६	कवित्तरत्नाकर के छन्द	१०३
१७	वाग्वैचित्र्य	१०४
१८	कवि सेनापति का काव्यानुशीलन (ऋतु)	१०६
१९	सेनापति और बिहारी	११८
२०	सेनापति और देव	१२०
२१	केशव और सेनापति	१२३
२२	भक्तिप्रवाह व कवि सेनापति	१२५
	राम भक्ति—कृष्ण भक्ति—शिव भक्ति का प्रवाह—गंगा के प्रति	
२३	साम्य वैष्णव भक्ति	१४०
	दैन्यभाव	
२४	सेनापति की बहुज्ञता	१४३–१४५

रीति-काल—काल निर्धारण

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकाल की अवधि विक्रमी सम्वत् १७०० से १९०० तक मानी है। यद्यपि बदलती हुई जनप्रवृत्तियों और उसके अनुरूप परिवर्तित होती हुई साहित्यिक मान्यताओं का इस प्रकार निश्चित कालमानदंड स्थापित करना बहुधा निर्भ्रान्त नहीं होता, फिर भी निरन्तर गतिशील एवं अपने कलेवर में समय समय पर विस्तार और संकोच को धारण करनेवाली काव्यमन्दाकिनी को बुद्धिस्थ करने के लिए कोई न कोई ऐसी विषय-विभाजक-रेखा तो खींचनी ही पड़ती है। आचार्य शुक्लजी ने जो कुछ निश्चित किया है वह आज भी मान्य इसलिए नहीं कि वह पूर्णतः संगत है बल्कि इसलिए कि ऐसा कोई बुद्धि-संगत विकल्प नहीं; उसकी पूर्ण संगति पर शंका करने का कारण तो यह है कि काव्य में रीतिकालीन शृंगार की प्रवृत्ति श्रीहरिऔध के 'रसकलस' तक निर्बाधरूप से चलती रही।

वर्तमानकाल की हिन्दी के सभी यशस्वी कलाकार अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में उसी प्रवृत्ति और भाषा के अवलम्बन को लेकर हिन्दी-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। महाकवि प्रसाद का 'कानन कुसुम' और राष्ट्रकवि श्रीमैथिलीशरण गुप्त की रचनाएं इसका उदाहरण हैं। निश्चित ही राष्ट्रकवि गुप्त की "भारत भारती" के पूर्व हिन्दी काव्य में किसी एक ऐसी बहु जनप्रिय काव्यसरणी का विकास नहीं हुआ था; जिससे रीतिकालीन शृंगार परम्परा की इतिश्री की सूचना मिलती, अलबत्ता हिन्दी गद्य के क्षेत्र में समाज सुधार की भावना चल पड़ी थी, यद्यपि वहां भी तिलस्मी उपन्यासों की ओर जनरुचि का झुकाव स्पष्ट था। अतः प्रश्न आधुनिककाल के आरम्भ का नहीं अपितु रीतिकाल के अन्त का है। आधुनिककाल शुक्ल जी के ही शब्दों में गद्यकाल है, प्रवृत्ति-विशेष का काल नहीं। लेकिन इतने से ही रीतिकाल का अन्त कैसे माना जा सकता है ? ठीक यही बात रीतिकाल के आरम्भ के विषय में भी कही जा सकती है। उसका आरम्भ आचार्य केशव से न माना जाकर श्रीचिन्तामणि से माना जाता है। इसका कारण यह दिया गया है कि रीतिकाल की जो परम्परा आगे चलकर मान्य हुई है वह आचार्य केशव की न होकर चिन्तामणि की थी। आचार्य केशव भामह एवं उद्भट आदि वक्रोक्ति-सर्वस्ववादी संस्कृताचार्यों के अनुयायी थे, जब कि चिन्तामणि रसवादी थे और आचार्य मम्मट, विश्वनाथ आदि के अनुवर्ती।

प्रश्न उठता है कि यदि चिन्तामणि आदि रसवादी थे तो इस काल के "रीतिकाल" नाम करण की क्या सार्थकता है ? समूचे रीतिकालीन साहित्य-मनन के पश्चात् कोई भी विचारक इसी निष्कर्ष पर पहुंचेगा कि ये सभी अलंकार कौशल प्रदर्शन के लिए काव्यरचना कर रहे थे। इन रचनाओं में रस सर्वत्र गौण है। आचार्य केशव की रामचन्द्रिका की विशेष प्राणवती कविताएं शृंगार, वीर, रौद्र आदि के बे जोड़ उदाहरण है।

अब रही बात यह कि आचार्य केशव के बाद उनके द्वारा प्रदर्शित परिपाटी लगभग पचास वर्षों तक बंद रही, लेकिन केवल बंद रहने से ही क्या होता है ? इन पचास वर्षों की अवधि में इसे छोड़कर किसी दूसरी मान्यता की प्रभुता भी तो नहीं रही ? फिर प्रश्न परिपाटी चलने का कब है ? प्रश्न तो सिद्धान्त या मार्गविशेष के आविष्करण से है। केशव निश्चय ही ऐसे आचार्य थे जिन्होंने हिन्दीसाहित्य के पूर्ण विकासकाल के बाद इस प्रकार के विवेचन की आवश्यकता का अनुभव किया। उनकी समस्त रचनाओं का अन्तर्मथन इस बात को पुष्ट करता है कि वे भक्तकवि की अपेक्षा काव्यविश्लेषक आचार्य अधिक थे। हमारे इन तर्कों पर भी तर्क हो सकते हैं लेकिन इससे आचार्य शुक्लजी की हिन्दीसाहित्य के इतिहास सम्बन्धी काल-निर्धारण की निर्विकल्पता सिद्ध नहीं होती। अधिकारी विद्वानों के लिए छोटी सी विवेचन-सामग्री तो यहां है ही।

साहित्य में कलाकार का व्यक्तित्व

कलाकार की आत्मा

साहित्य का उद्गम व्यक्तिविशेष का हृदय है। साहित्यस्रष्टा अपनी तीव्र संवेदनशीलता और अभिव्यक्ति के सबल माध्यम से ही समाज में अपनी असाधारणस्थिति रखता है। तीव्रसंवेदनशीलता के कारण युग में संघटित होनेवाली परिस्थितियों का मार्मिक प्रभाव उसके हृदय को अधिक मथित करता है। संस्कारों की उच्चता और हृदय की अत्यधिक कोमलता के कारण उसका निजत्व उस संकीर्ण सीमा में आबद्ध नहीं होता, जिसमें साधारणजन का होता है। निजत्व की इस विराटता के ही कारण साहित्यकार में विषय परीक्षण की भी विचित्र क्षमता होती है। इस लिए उसका विषय-विश्लेषण बहुजनग्राह्य एवं जनमन-रंजक होता है।

निजत्व की इस विराटता के कारण ही महाकवि कालिदास सहस्रों वर्षों के कालान्तर में उत्पन्न होने पर भी पुराण, इतिहास प्रसिद्ध महाराजा दुष्यन्त, शकुन्तला और महर्षि कण्व के हृदयस्थित भावों का प्रतिनिधित्व कर सके। भवभूति भगवान् राम के हाहाकार को अंकित करने में समर्थ हो सके। अंध महाकवि सूरदास वियुक्ताव्रजबालाओं की हृत्तंत्रियों की धड़कन को वाणी दे सके और महाकवि तुलसीदास रामराज्य की सभी मनोवृत्तियों को 'मानस' में मुखरित करने में सिद्ध हो सके। आज के युग में भी राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने सहस्राब्दियों के बाद विरहिणी गोपा की हृदय की तड़फन को लोक के सामने रखा। लोकदृष्टि से दूर साकेत के राजभवन के किसी पार्श्ववर्ती कक्ष में एक मूक किन्तु सती साध्वी आर्यललना के अनुरूप बारह वर्षों की लम्बी चौड़ी अवधि तक अपने निरंतर बहते हुए आँसुओं को विना सिसकी लिए चुपके से पीनेवाली उपेक्षिता उर्मिला की ऊहापोहपूर्ण वेदना को विश्व के असंख्य कानों में झंकृत किया।

महाकवि प्रसाद सागर की शांत हलचल में भी किसी लोकोत्तर सत्ता का गुण गान सुनते हैं, उनकी कामायनी में रति, प्रकृति लज्जा की छाया-प्रतिमा भी गुनगुना कर बहुत कुछ विषण्णार्थवती बात कह जाती है। महाकवयित्री महादेवी और महाकवि सुमित्रानन्दन पंत प्रकृति के नाना व्यापारों में जिन वाणीविहीन भावों के आदान प्रतिदान को सुनते हैं, लोक के अंदर कितने साधारण व्यक्ति हैं जो इसे सुन सकते हैं ? अभिव्यक्ति की क्षमता की बात तो दूर रही ?

श्रीमद्भागवत के एक प्रसंग में राधा के गरम दूध पीने पर भगवान् कृष्ण के पैरों पर जलन के कारण छाले पड़ने की बात आती है। सूफियों के प्रेमकाव्यों के नायक नायिकाओं के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की अनेकों किम्वदन्तियां प्रचलित हैं। विश्वप्राणों के साथ प्राणों की इस एकरूपता की जितनी आवश्यकता कलाकार के लिए अपेक्षित है किसी दूसरे के लिए नहीं। जिस कलाकार में जितनी मात्रा में यह एकरूपता होगी उसी मात्रा में वह युग का प्रतिनिधित्व कर सकेगा। प्राणों की इस ऐक्यानुभूति के विना उस त्रिकाल-दर्शिनी योग्यता का होना असम्भव है जिससे कलाकार में त्रिकाल-बाधित सत्य-समन्वित-साहित्य-सृजनात्मकता है।

प्रभाव की मुख्य दिशाएँ

अब प्रश्न यह है कि कलाकार पर मुख्यतः प्रभाव किन-किन दिशाओं से पड़ता है। कलाकार अपने असाधारण व्यक्तित्व में भी समाज का ही एक प्राणी है। विभिन्न जातियों में सामाजिक-प्रौढ़ता के बाद ही साहित्य-सृजन हुआ। सुसभ्य जातियों की सामाजिक अवस्था में व्यक्ति परावलम्बित अधिक होता है। समाज से विच्छिन्न व्यक्ति के अस्तित्व की तो कल्पना ही कष्टकर है। पूर्व-पाषाण-युग के शाखा-वासों और गुफा-निवासों को छोड़कर मानों मनुष्य ने अपने वैयक्तिकस्वातंत्र्य को बेच डाला। इसलिए कलाकार भी एक व्यक्ति के रूप में समाज की एक पूरक इकाई के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

समाज के अन्य प्राणियों के जैसे ही खाने, पीने और पहिनने आदि के लिए जीवनोपयोगी विशिष्टसाधनों के लिए कलाकार को भी दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। धार्मिक आन्दोलनों से वह भी प्रभावित होता है। सामाजिक मान्यताओं की पूर्णतः उपेक्षा करके वह भी नहीं चल सकता। राजसत्ता के विधि-विधान उसके लिए भी अनुसरणीय होते हैं। यह बात दूसरी है कि वह जनसाधारण की अपेक्षा सामयिक प्रभाओं से कम प्रभावित होता है और प्रभावों के बीच पड़कर भी वह अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखने की सामर्थ्य रखता है।

यहीं पर उसकी स्थिति भिन्न हो जाती है और वह युग की बात बोल सकता है। पर इतना तो निर्विवाद है कि वह भी प्रभावित होता है। यदि विश्वप्राणों के साथ उसकी एकात्मकता रही तो निःसंदेह उस पर पड़नेवाला प्रभाव साधारण व्यक्ति पर पड़नेवाले प्रभाव से शत शत गुणा अधिक होता है। कम प्रभाव की बात हमने ऊपर इसी लिए लिखी कि प्रचण्डमनःसंतुलन के कारण कलाकार का व्यक्तित्व उस स्थिति में भी अडिग रहता है।

जहां तक प्रभाव की दिशाओं की निश्चिति का प्रश्न है इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि कम से कम हिन्दी का आरम्भ ही राजनीतिक घात-प्रतिघातों से हुआ है। मानवीय सभ्यता के विकास के आरम्भ से ही राजनीति, धर्म एवं समाजनीति दोनों को परिचालित करती रही है। समाज में शान्ति एवं सुव्यवस्था को रखना पूर्णतः राज्य पर निर्भर करता है।

समाज और धर्म दोनों शान्ति और सुव्यवस्था में ही फूलते फलते हैं। कुशासन में समाज व्यभिचरित हो जाता है, सद्धर्म की जड़ें खोखली हो जाती हैं। उदाहरण के लिए हिन्दीसाहित्य के इतिहास को लीजिए। वीरगाथाकाल की सभी रचनाएँ राजदरबारों में पलनेवाले, राजनीति में सक्रिय भागलेनेवाले भाटों से लिखी गईं। उनमें युद्धों के वैयक्तिक अधिकारवृद्धि के प्रयाणों का लेखा जोखा अधिक है। समाज की उत्कट मनोवृत्ति-प्रेम (विवाह सम्बन्ध मूलक) का चित्रण गौण है—युद्ध की मुख्य मनोवृत्ति का पूरक है। धार्मिक प्रवृत्तियों का उल्लेख तो बिलकुल ही नहीं। भक्तिकाल धार्मिक-सांस्कृतिक-संघर्षकाल था लेकिन इस संघर्ष का मुख्य हेतु भी मुस्लिमों की विजय और हिन्दुओं की पराजय के रूप में शुद्ध राजनीतिक था। इसी लिए इस काल के प्रमुख काव्य प्रबन्धात्मक हैं, और सद्धर्मसमन्वित सामाजिक व्यवस्था एव शासनपद्धति की कल्पना करते है। 'पद्मावत' और 'रामचरितमानस' इसके उदाहरण हैं। कबीर और कृष्णभक्त कवियों की रचनाओं में भी राजनीतिक उलट फेर से उत्पन्न विषम-परिस्थितियों में साम्य उपस्थित करने की प्रेरणा अधिक है। इस युग के कलाकारों ने राजनीतिक परिस्थितियों से पथभ्रष्ट फलतः उच्छृंखल समाज में येन-केन-प्रकारेण सुरुचि तथा मर्यादा को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। यदि उस समय के इतिहास में अप्रत्याशित राजनीतिक विपर्यय न हुआ होता तो कौन कह सकता कि हिन्दी में कबीर, मलिक मोहम्मद जायसी, तुलसी और सूर की अवतरणा अवश्य ही हुई होती ?

राजनीतिक चेतना

रीतिकाल की राजनीतिक चेतना

ठीक यही बात रीतिकाल के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। विक्रमी सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ से उन्नीसवीं सदी के अन्त तक का राजनीतिक इतिहास मुगलशासन के चरमोत्कर्ष और साथ ही चरमअवनति का भी इतिहास है। राजपूतों की प्रतिरोधशक्ति के पूर्णतः निश्शेष होनेपर मुस्लिम शासकों में निरापद भावनाजन्य प्रमाद का होना जरूरी था। निश्चय ही वह अति दूरद्रष्टा एवं सर्वदा संतुलित-मस्तिष्कवाली अंग्रेज जाति नहीं थी। मुस्लिमशासक उन्नति की चरमसीमा में पहुँचकर विलासोन्मुख हुए तथा उनका अनुकरण उन सभी राजपूत राजाओं ने किया जिन पर अपने पूर्वपुरुषों द्वारा उपार्जित वीरत्व का अभिमानमात्र शेष था, जो स्वतः खोखले थे, प्राणों को हथेलीपर धरकर चलने की क्षमता उनमें भी थी लेकिन स्वत्त्व-सम्पन्न विवेकशील क्षत्रिय-मस्तिष्क का जिनमें सर्वथा अभाव था वे मरते तब भी थे लेकिन अपने लिए—अपने देश के लिए नहीं, अपितु मुस्लिम साम्राज्य संरक्षण के लिए, अपनी पराधीनता की बेड़ियों को और भी मजबूती से कसने के लिए। जोधपुर के राजा जसवन्तसिंह और जयपुर के मिर्जा राजा जयसिंह इसके उदाहरण हैं। उस काल में जन-साधारण की रुचि एवं संस्कारों को अपने में प्रतिफलित करने में लोक-साहित्य (लोकगीतों के रूप में) का कुछ भी पता इस समय नहीं है इसलिए उनके विषय में तो कुछ भी लिखना संगत नहीं, लेकिन राजदरबारी वातावरण का जीवित लेखा-जोखा उन दरबारों के उपजीवी कलाकारों की रचनाओं में अवश्य मिलता है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि युद्ध-काल में कला स्थूलता की ओर उन्मुख होती है और शान्तिकाल में सूक्ष्मता की ओर। सूक्ष्म को सुन्दरढंग से अभिव्यक्त करनेवाली कला उत्तमता की दृष्टि से अच्छी मानी जाती है। कुछ लोगों का ऐसा भी विचार है कि हिन्दी साहित्य का रीतिकाल राजपूतों के प्रतिरोध-शक्तिरहित होने के कारण शान्तिकाल था और उस काल में निर्मित रचनाएँ कला-विकास की दृष्टि से अत्युत्तम हैं। जहाँ तक उस काल की कलाकृतियों का प्रश्न है, उन पर विचार आगे प्रस्तुत किए जायँगे। यहाँ पर उस काल के शान्तिपूर्ण वातावरण के विषय में ही हम कुछ लिख रहे हैं।

वि० सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में दिल्ली के तख्त पर सम्राट् शाहजहाँ आसीन थे। यह काल मुगलशासन के अभ्युदय की दृष्टि से चरमउन्नति का काल था। पश्चिम में अफगानिस्तान के कुछ भागों से लेकर दक्षिण में औसा तक तथा सिंध के लाहरी बंदरगाह से लेकर आसाम में सिलहट तक विशाल-मुगलसाम्राज्य फैला हुआ था। दक्षिण में कुछ समय से स्वाधीन चले आनेवाले अहमदनगर, गोलकुण्डा तथा बीजापुर राज्य मुगलों की

अधीनता में आ चुके थे। अब्दुलहमीद लाहरी के अनुसार उस समय मुगलसाम्राज्य में २२ सूबे थे, राज्य की आय ८८० करोड़ दाम (२२ करोड़ के लगभग) थी, राजकोष भरपूर था और चारों ओर शान्ति थी।

लेकिन शाहजहाँ के समय में ही मुगल-वाहिनी की अपराजेयता, पश्चिमोत्तर प्रान्तों में मिली लगातार तीन पराजयों से, सिद्ध हो चुकी थी। ठीक इस शताब्दी के आरम्भ में हुई रूस जापान की लड़ाई ने जिस प्रकार सुषुप्त एशिया में जागृति का ज्वारभाटा पैदा किया ठीक उसी प्रकार मुगल सेना की इन करारी पराजयों ने हिन्दुस्तान की सुषुप्त शक्तियों को जगाकर आँख फाड़कर देखने और उठने की प्रेरणा दी। सम्राट् शाहजहाँ अपव्ययी तो थे ही साथ ही साथ अदूरदर्शी भी थे। यदि वे दूरद्रष्टा होते तो अपने छोटे पुत्र औरंगजेब की मनोवृत्तियों का विश्लेषणकर उसके हाथों में शक्तिसंचय का अवसर न देते। सम्वत् १७१५ में उनके बीमार पड़ने और मरने की अफवाह उड़ने के बाद दारा और औरंगजेब के परस्पर युद्ध-लिप्त होने पर कठोर कदम उठाए होते। लेकिन यह सब कुछ न होकर उनके देखते-देखते ही धार्मिक-सहिष्णुतावृत्ति-सम्पन्न दारा की पराजय और मृत्यु तथा उनकी स्वतः वह दुर्गति न होती जो सिंहासनच्युत होकर जीवन के अन्तिम दिनों में हुई। मुगलशासन की बागडोर का, कट्टर सुन्नी कुटिल राजनीतिज्ञ औरंगजेब के हाथों आने का मतलब उसके साम्राज्य-विनाश के श्रीगणेश के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता था। इतिहास में औरंगजेब का शासन-काल १७१५ सं० से आरम्भ होकर सं० १७६४ तक चलता है। पूरी अर्द्ध शताब्दी तक औरंगजेब हिन्दुस्तान का शासन मुसलमानों के जिंदा पीर के रूप में करता रहा। लेकिन इतनी लम्बी-चौड़ी अवधि में शायद ही उसे एक दिन आराम की सांस लेने को मिला हो। वह जितना कट्टर ढोंगी और असहिष्णु मुसलमान था उतना ही अविश्वासी भी था। इसका प्रमाण उसके द्वारा की गई अपने भाइयों की निर्मम-हत्या और बाप को कैद करना है !

औरंगजेब के शासन के आरम्भ के दिनों में उत्तरी भारतवर्ष के हिन्दुओं ने उसकी अन्याय-पूर्ण नीति के विरुद्ध उपद्रव किए। आगरा में गोकुल के नेतृत्व में जाटों ने, इलाहाबाद में अनेकों जागीरदारों ने और अवध में बैस राजपूतों ने विकट संघर्ष किए; किन्तु सामूहिक चेतना के अभाव में सभी उपद्रव विफल रहे। फलतः औरंगजेबी कोपाग्नि में होम हुआ काशी का विश्वनाथ मंदिर और मथुरा का केशवदास का मंदिर। उसकी इस प्रचण्ड हिन्दु-विरोधी नीति का प्रभाव अच्छा ही हुआ। बुंदेलखण्ड में चम्पतराय ने विद्रोह की जो लौ जलाई उसका उद्दीपन उसके यशस्वी पुत्र महाराज छत्रसाल (भूषण के आश्रय दाता) जीवनभर करते रहे जोधपुर के राजा जशवंतसिंह की मृत्यु के पश्चात् औरंगजेब ने जब जयपुर को हस्तगत किया तो मारवाड़ और मेवाड़ में विद्रोह की चेतना जागी। संघर्ष हुआ और दुर्गादास अन्ततक प्रतिरोध करते रहे। नारनौल और मेवाड़ के सतनामी सम्प्रदाय के लोगों ने औरंगजेब के नाकों

चने चबवाये। पंजाब में गुरु तेगबहादुर की हत्या के बाद जो आग सुलगी थी वह अन्त में मुगलसाम्राज्य के सम्पूर्ण विनाश के साथ ही बुझी।

इधर दक्षिण में समर्थगुरु रामदास की पवित्र शिक्षा और प्रलयकारिणी हुंकार भरने-वाले कवि भूषण की वाणी से जागरूक शिवा क्रमशः दक्षिण में हिन्दूपद पादशाहीकी जड़ जमाने में समर्थ हुए। आग चूंकि चारों ओर फैल चुकी थी इस लिए औरंगजेब के वश की नहीं थी। अपने राज्यकाल के उत्तरार्ध में वह उत्तर और पश्चिमोत्तर के संघर्षों को दबाने में उलझा रहा और उत्तरार्ध बीता उसका दक्षिण के उपद्रवों को दबाने में, जिसमें वह सफल नहीं हुआ।

औरंगजेब के शासन में न जनता को आर्थिक स्वाधीनता थी और न उसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता ही। न्याय भी धर्म की तुला पर बिकता नज़र आता था। औरंगजेब जीवन-भर लड़ता रहा और इन लड़ाइयों में जनता को और साथ में सामंतों को भी चूसता रहा। सैनिकों का एक बड़ा भाग उसे जागीरदारों से मिलता था, आर्थिकस्थिति के डाँवाडोल होने के कारण वे उसकी पूर्ति न कर सके—फलस्वरूप औरंगजेब की सैनिक कमर टूटती गई। और अन्त में सन् १७६४ में जब वह मरा तो उसके मरने की कुछ अवधि के बाद ही पूरी तरह खोखले हुए मुगलसाम्राज्य की दीवारें अरझराकर गिर पड़ी। औरंगजेब की मृत्यु के बाद का इतिहास घोर अराजकता और राजनीतिक पतन का इतिहास है।

दिल्ली के उत्तर में सिक्ख शक्तिशाली हो रहे थे। राजपूताने में राजपूतों का और आगरा के आस पास जाटों का विद्रोह चल रहा था। महाराष्ट्र में सिक्खों की शक्ति तो अप्रतिहत बढ़ ही रही थी। इधर दिल्ली की बादशाहत को सैयद भाई नचाते रहे। बदावैरागी से फर्रुखसियर और बहादुरशाह दोनों ही परेशान रहे लेकिन तब भी दिल्ली में तूरानी सर-दारों की तूती बोलती रही।

हिन्दुस्तान की भीतरी दशा यह थी। उधर यूरोपियन जातियां जो व्यापार के लिये भारतवर्ष के समुद्री प्रांतों में जमी हुई थीं, इस सारे खेल को अर्थपूर्ण दृष्टि से देख रही थीं। पहिले वे आपस में लड़ीं। फ्रांसीसियों ने डचों को और फ्रांसीसियों को अंगरेजों ने शक्ति-हीन किया। दिल्ली की बादशाहत अपनी ही भूमि पर विदेशियों के इन उपद्रवों को देखती रही। देश का दुर्भाग्य—दक्षिण में छत्रपति शिवाजी की मृत्यु के बाद मरहठों में ऐक्य नहीं रहा। वे आपसी वैमनस्य से कमजोर होते गये, १७३९ ई० में ईरान के नादिरशाह ने हमला कर मुहम्मदशाह को बन्दी बना दिल्ली में कत्लेआम की घोषणा कर दी। सिन्धु के पश्चिमी प्रान्तों को मुआवजे में देकर मुहम्मदशाह ने जान बचाई। लेकिन बादशाहत नंगी हो गयी। फलतः बंगाल के अलीवर्दी खाँ, दक्षिण के निजामुलमुल्क—आसफजाह और अवध के सूबेदार सआदतअली खाँ ने स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी।

स० १८१८ में अफगानिस्तान के अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण ने पानीपत के मैदान में मराठों की सम्मिलित शक्ति को भी पराजित कर दिया। अंग्रेज इसी ताक में थे ही, उन्होंने बक्सर की लड़ाई में शाहआलम को हराया और उसे अपने संरक्षण में ले लिया। अर्थात् रूपान्तर से सारे भारत की सल्तनत को ले बैठे। सन् १८५७ तक की कालावधि के भीतर जितने भी युद्ध हुए उनसे अंग्रेजों की शक्ति बढ़ती गई। जब अंग्रेज दिल्ली की तरफ तेजी से बढ़ रहे थे तब दिल्ली के दरबार में जाट, रुहेले, मराठे और नवाब वजीर पद के लिए षड्यंत्रों में उलझे पड़े थे। अन्त में वह दिन भी आया जब बहादुरशाह को सदा के लिए देश छोड़ना पड़ा। दिल्ली सहित सारा भारत अंग्रेजों के अधीन हुआ।

इस प्रकार गौर से देखने पर रीतिकाल का समूचाकाल ही संघर्षों का काल है। ठीक वीरगाथाकाल के ही जैसा। फिर भी दोनों की साहित्यिक-प्रवृत्तियों में भिन्नता है। इसके भी विशिष्ट कारण हैं। रीतिकाल के अधिकांश हिन्दीकवि हिन्दू राजाओं के ही आश्रय में रहते थे। हिन्दू राजाओं के भी, जैसा कि हमने ऊपर निर्दिष्ट किया है, दो वर्ग स्पष्ट थे। एक था छत्रपति शिवाजी और महाराजा छत्रसाल आदि का, दूसरा था राजा जसवन्तसिंह तथा मिर्जा जयसिंह आदि का। पहिले वर्ग में इने गिने व्यक्ति थे जब कि दूसरे वर्ग में एक बड़ी संख्या थी। आश्रयी आश्रयदाता की रुचियों की अवहेलना नहीं कर सकता। यदि कलाकार सुदृढ़ इच्छाओं का क्रान्तिकारी कलाकार हुआ तो वह अर्थलोभ से अपने स्वातंत्र्य को बेचना पसन्द नहीं करता, अपने से भिन्नादर्शवाले आश्रय में जाता ही नहीं। यदि भ्रांतिवश जाता भी है तब भी अवसर पड़नेपर उसका परित्याग करते देरी नहीं करता। चिन्तामणि त्रिपाठी, मतिराम और भूषण ऐतिहासिक मान्यताओं के आधार पर भाई थे फिर भी एकाश्रय में नहीं रह सके। भूषण अपने अनुकूल आश्रय की खोज में पहिले बूंदी और फिर महाराष्ट्र पहुँचे, कानपुर के आस-पास के अनेकों राजाओं को छोड़कर? क्यों? उत्तर ऊपर दिया जा चुका है। अधिकांश हिन्दू-राजा आत्म-विश्वासहीन और विलासी थे। युद्ध की अपेक्षा विलास की बात उन्हें अधिक रुचिकर थी। फलतः उन्हीं की रुचियों को उनके आश्रयी-कलाकारों ने ऊपरी रचनाओं में प्रतिविम्बित किया। इसलिए रीतिकाल के कवियों का एक बड़ा भाग हमें शृंगारी दीखता है।

लेकिन रीतिकाल में ही भूषण, गोरेलाल और छत्रसाल आदि भी हुए हैं। प्रवृत्त्यनुकूल आश्रय और संसर्ग मिलने पर इन्होंने वीरगाथाकाल के कवियों से कहीं अधिक ओजस्विनी रचनाएँ लिखी हैं। इसका भी कारण स्पष्ट है। वीरगाथाकाल में आश्रयदाता की वीरता का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करना एक प्रकार की परम्परा बनी हुई थी। उस काल के राजाओं के सामने कोई ऊँचा आदर्श नहीं था—स्वाधीनता का अर्थ वे बड़ा संकीर्ण लेते थे, इसीलिए मुट्ठीभर विदेशियों के सामने उन्हें शिकस्त खानी पड़ी। काल के प्रचण्ड थपेड़ों ने छत्रपति शिवाजी को पैदा किया था। उनके सामने हिन्दूराष्ट्र के ऐक्य और स्वाधीनता

का प्रश्न था, यही उनका महान् उद्देश्य था। उद्देश्य की इस गरिमा के कारण ही भूषण की वाणी को वह ओज प्राप्त हुआ जो उसमें है। देश, जाति और राष्ट्र-भावना का जो स्पष्टरूप उनकी रचनाओं में देखने को मिलता है वह उनतक के समूचे हिन्दी-साहित्य में बेजोड़ है। निश्चय ही उस समय राजपूताने के कछवाहे, शीशोदिया, राठौर और हाड़ा राजपूतों में परम्परा से चलनेवाली आपसी फूट पहिले से भी तीव्ररूप में न होती तो छत्रपति का उद्देश्य उनके जीवन-काल में ही पूरा होता और आज विश्वराजनीति में हिन्दुस्तान की परिस्थिति कुछ और ही होती, और भूषण की परम्परा सारे रीतिकाल को आत्मलीन कर गई होती:—

पर—

राम न जाते हरिण सँग सीय न रावण साथ।
जो 'रहीम' भावी कतहुँ होति आपने हाथ॥

ऊपर के संक्षिप्त विवेचन से एक बात तो स्पष्ट है कि रीतिकाल में जो दो परस्पर विपरीतगामिनी साहित्यिक-प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं वे अकारण या आनुसंगिक न होकर शुद्धरूप से राजनीतिक हैं।

सामाजिक चेतना

सामाजिक स्थिति की सम्यग् जानकारी लोकगीतों और लोक-दन्तकथाओं में बिखरे जनसाहित्य से मिलती हैं। उस काल के लोकगीत अतीत के कालसमुद्र में विलीन हो चुके थे। दन्तकथाएँ नानी और दादी की परम्परा से यदि कुछ चल भी रही हों तो उनका संकलन अब तक हिन्दी में हुआ ही नहीं है। इतिहासकार सन्-सम्वत् के लेखे-जोखे के कारण तदभाव में उनमें सत्य ही नहीं देखते और औरों के लिए उनका साहित्यिक-मूल्य ही नहीं है ? लेकिन अतीत की सामाजिक रुचियों को पकड़ने के लिए तो ये कथाएँ अति मूल्यवती सिद्ध हो सकती हैं।

अस्तु, इन त्रुटियों के रहते हुए भी कई ऐसे सूत्र हैं जिनके आधार पर कुछ तथ्य पकड़े जा सकते हैं। उनमें सर्वप्रथम हैं विदेशी इतिहासकारों के वृत्तान्त। इनके अनुसार तत्कालीन-समाज कई प्रमुख वर्गों में बँटा हुआ था। तब भी जनसंख्या का एक बड़ा भाग मजदूरों और किसानों का था। खेती और व्यापार की समृद्धि इनके हाथों पर थी। सरकारी-आय का एक बड़ा भाग कररूप में इन्हीं से आता था। फिर भी शासन में इनकी आवाज बिल्कुल नहीं थी। इनसे बड़ा वर्ग था छोटी नौकरी करनेवालों का। शिक्षा की दृष्टि से ये दोनोंवर्ग हीन थे। छोटे-छोटे दूकानदारों के अतिरिक्त साहूकारों और बड़े व्यापारियों की भी एक प्रभावशाली श्रेणी थी। बड़े-बड़े अमीर और ओहदेदारों की स्थिति निरंकुश सम्राट् के बाद दूसरी थी, विद्वान्, राजाओं, सामन्तों और सम्राट् के आश्रित रहते थे। साधारणजन की अपेक्षा इनकी स्थिति अच्छी थी, कम से कम उस समय तक अच्छी रही जबतक मुगलशासन में शक्ति रही और शक्ति का अशान्ति के कारण विकेन्द्रीकरण नहीं हो गया—तथा आश्रयदाताओं की आर्थिक स्थिति छिन्न-भिन्न नही हो गई।

औरंगजेब के शासन के आरम्भ से ही इस प्रकार की स्थिति के लक्षण स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो रहे थे। उसके शासनकाल का उत्तरार्ध एक प्रकार की अराजकता का इतिहास है। उसकी मृत्यु के बाद की स्थिति पर तो हम ऊपर प्रकाश डाल ही चुके हैं। लेकिन इतना सब कुछ होते हुए भी यह निर्विवाद है कि कलाकारों की स्थिति उस काल में अच्छी थी। राजदरबारों में समादृत और आश्रित होने के कारण निश्चय ही उनका जन-सम्पर्क नगण्य सा था। तात्कालिक-समाज का स्थूल वर्गीकरण हमने ऊपर किया है। उससे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि वैभव की चकाचौंध राजप्रासादों और कुछ इने गिने सामन्त तथा श्रेष्ठी-गृहों तक सीमित थी। शाहजहाँ की अय्याशी का अन्दाज आगरे के ताजमहल से लग सकता है। यद्यपि आज वह विश्वस्थापत्यकला में बेजोड़ है, फिर भी इससे विलासी और स्वेच्छाचारी बादशाह की मनोवृत्ति का पता तो चलता ही है। निश्चय

ही कलासाधना उसकी गौण थी। एक दिमागी खब्त से उसने केवल जीने भर के योग्य भोजन देकर बाईस वर्षों तक हजारों मजदूरों के श्रम का बेरहमी से शोषण किया। वह भी केवल इस बात के दिखावे के लिए कि वह कितना बड़ा मजनूं है ? तत्कालीन मुसलमान बादशाहों की स्वेच्छाचारितापूर्ण भोगविलास की एक बारीक झाँकी विदेशी पर्यटकों के वृत्तान्तों से मिल सकती है। मैनूची और ट्रेवर्नियर आदि पर्यटकों के अनुसार शाहीपरिवार में मणि-रत्नों का उन्मुक्त व्यवहार होता था। बादशाह के लिए प्रतिवर्ष एक सहस्र बहुमूल्य वस्त्र निर्मित किये जाते थे। जिन्हें वह नववर्षारम्भ तक अमीर-उमरावों में बाँट देता था। मुगलबादशाह राजदरबारों में स्वर्णखचित वस्त्रों और अनर्घ्य-रत्नहारों से लदा आता था। वह अपने दैनिक-जीवन में ही बहुमूल्य इत्रों का प्रयोग करता था। उसके अन्तःपुर का ऐश्वर्य इन्द्र-भवन के ऐश्वर्य को भी तिरस्कृत करनेवाला था। शाहजहाँ के रनिवास में लगभग दो हजार स्त्रियाँ थीं, उनमें अधिकांश बहुमूल्य रत्नजटित मुक्ताहारों से लदी रहती थीं। अतिमूल्यवान इत्रों से उनके भवन महकते रहते थे। दिन में अनेक बार वे स्त्रियाँ कीमती वस्त्रों को बदलती रहती थीं। यही हाल दिल्ली दरबार के अमीर-उमरावों, सामन्तों और उन दरबारों के आश्रित हिन्दू राजाओं के राजभवनों का भी था। विलास और उत्कट-व्यभिचार का चारों ओर बोल-बाला था। विशुद्ध साम्प्रदायिकता पर आश्रित और आधृत मुस्लिमशासन में एकराष्ट्रीय भावना की कल्पना ही असम्भव थी इसलिए उसके निर्माणात्मक विचारों का तो कहना ही क्या। लेकिन अकबर की सी दूरदर्शितापूर्ण नीति का स्थान राजभवनों के अन्दर चलनेवाले आन्तरिक षड्यंत्रों ने ले लिया था। जो प्रखर-बुद्धि कभी शत्रु-केन्द्रों के भेद के लिए प्रयुक्त होती थी वह कुट्टिनी व्यापार में केन्द्रित हो चुकी थी। औरतों और सैनिकों के शिविर भी वेश्याओं के मादकतापूर्ण कटाक्षपातों से विरहित होने पर सूने समझे जाते थे। मुगलसेनाओं के साथ वेश्याओं की पल्टन भी चलती थी। चारों ओर सुरा-सुन्दरी की उपासना चल रही थी। विगत मुगलसाम्राज्यों के पतन और रीतिकाल की प्रचलित नायिकाभेद परम्परा को समझने के लिए यह जानना जरूरी है। बिहारी, देव और पद्माकर की रचनाओं में दरबारी वातावरण और दरबारी मनोवृत्ति की झलक अधिक मिलती है। यद्यपि सेनापति की रचनाओं में भी दरबारी वातावरण और भोगविलास की सामग्री की लघु झलक मिलती है, किन्तु सेनापति पर कुछ सांस्कृतिक वातावरण का भी ऐसा अक्षुण्ण प्रभाव रहा कि वे इस ओर अधिक न झुक सके। उनके ऐसे वर्णन परम्परागत प्रभावमात्र के द्योतक ही हैं। हालांकि राजाश्रय उनको भी मिला था पर उनका आश्रयदाता (जैसा कि हम आगे बताएँगे) भी कुछ सात्त्विक और सांस्कृतिकचेतना-सम्पन्न था।

रीतिकाल में नैतिकता का प्रायः अभाव सा हो रहा था। राजनीतिक पराजय ने हिन्दुओं के जीर्ण-शीर्ण जातीय-संघटन को पूर्णतया विच्छृङ्खल कर दिया था। जातिभेद से

हिन्दुओं का पतन हुआ था लेकिन यह भावी की प्रबलता है कि उस प्रचण्डपराजय ने भी हिन्दुओं में व्याप्त उनके क्षुद्र अहंभाव को नष्ट नहीं किया। पराधीनताकाल में वह भेद-भावना और भी प्रबल हो उठी! परिणामतः इस्लाम की संख्या तीव्रता से बढ़ने लगी। निम्नजातीय हिन्दुओं के सामने अपनी उत्कृष्टता को सिद्ध करने के लिए न उस समय ब्राह्मण के पास कुछ था और न क्षत्रिय के पास। दोनों मुसलमान के सामने नतमस्तक होते थे, यद्यपि मुसलमान साम्प्रदायिकता के उत्कट प्रतीक थे! दूसरी ओर शासकनीति के धर्म-पण्डित उनकी हीनतम अवस्था के बोधन के साथ अपनी धार्मिक उदारता को उनके सामने रखते थे—रही सही कमी मुसलमान-बादशाह पूरी कर लेते थे। परिणाम जो कुछ भी है वह अपने वीभत्सतापूर्ण-यौवन में आज भी हमारे सामने है।

अब तात्कालिक सामाजिक नैतिकता पर भी थोड़ा सा विचार कर लिया जाय। हमारे प्रसिद्ध विद्वान डा० हरदेव बाहरी (प्राध्यापक प्रयाग विश्वविद्यालय) ने हिन्दी के एक सुप्रसिद्ध दैनिक में कुछ वर्ष पूर्व एक महत्त्वपूर्ण लेख लिखा था जिसमें उन्होंने मुस्लिम-शासनकाल की उत्कृष्ट न्यायव्यवस्था की, सराहना की थी। उनके कथन में भी बल होगा लेकिन एक दो मुस्लिम-बादशाहों को छोड़कर जितना भी इतिहास मुस्लिमशासन का उपलब्ध है वह एक बात को तो समानतः सिद्ध करता है कि वे सभी अन्धधार्मिक थे। अन्धधार्मिकता स्वतः घोर अनीति है क्योंकि उस मनोवृत्ति के मूल में जहाँ अहम्मन्यता के बीज निहित होते हैं, वहाँ वह दूसरों की मान्यता के प्रति एक हीनभावना को लेकर भी चलती है। असहिष्णु व्यक्ति अपने विरोधी विचारवाले के प्रति क्रुद्ध तो होता ही है लेकिन अवसर पड़ने पर वह मानवमात्र को तुच्छ भी समझने लगता है। व्यक्ति या किसी सम्प्रदाय की यह अवस्था उसमें अनेकों दुर्गुणों का समावेश करा देती है। मुगलशासक स्वतः कई दुर्गुणों के केन्द्र थे। साथ ही अपने धर्म के संरक्षक और प्रचारक भी। इस प्रकार राज-नीतिक शक्ति और राजधर्म का मेरुदंड एक था और उस मेरुदण्ड की गिठा में कहीं टिकाव नहीं था। इसलिए सारे साम्राज्य में व्यभिचरित-चरित्र की प्रच्छन्न किन्तु विशेष वेगवती लहरें हिलोरें ले रहीं थीं। ऊपर से नीचे तक विलास की उद्दाम-प्रवृत्तियाँ समाज में भी जागरूक थीं। विलास अपव्यय के साथ चलता है। अपव्यय के लिए आनेवाली धनराशि मनुष्य के नैतिक-मूल्यों को नष्ट कर के ही इकट्ठा होती है। मुस्लिमशासन में पद बिकते थे। बादशाह स्वतः घूस देकर लोगों को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करते थे। खासकर उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर जब शाहजादों में आपसी छीनाझपटी होती थी। औरंगजेब ने जिस नृशंसता के साथ दारा का वध किया वह प्रजा के सामने उसकी नैतिकता को उपस्थित नहीं करता। जब शक्ति के मेरुदंड की यह दशा थी तब प्रजा के चरित्र के विषय में तो कहना ही क्या? विलास के इस अखंड-साम्राज्य में जनसाधारण में सत्यपरायणता और कर्तव्य-निष्ठा की बात ही बेकार है। औरंगजेब के बाद जहाँगीर आदि बादशाहों ने

अपने पंगुपन से उसकी रही सही प्रभुता को भी मिट्टी में मिला दिया। यही हाल मुसलमानों के पिछलग्गू हिन्दू राजाओं का भी था। उचित शिक्षा के अभाव में शाहजादे और राजकुमार बचपन से ही आवारागर्द हो जाते थे। अकबर और बीरबल के पुत्रों के नाम पर आज भी सैकड़ों अय्याशी की कहानियाँ प्रचलित हैं।

इस भयंकर चरित्रहीनता ने आत्मनिष्ठा की भावना को सर्वथा लुप्त कर दिया था। भीरु और अकर्मण्य समाज में अंधविश्वासमूलक अनेकों रीति-रिवाज प्रचलित थे। राजदरबारों से लेकर मध्यवर्ती स्थितिवाले समाज तक में ज्योतिषियों की प्रगाढ़-प्रतिष्ठा थी। सामाजिक-जीवन के जड़त्व की यह एक प्रकार की पराकाष्ठा थी।

भक्तिकाल का वह स्वस्थधार्मिकरूप जिसकी प्रतिष्ठा कबीर, सूर, तुलसी आदि महापुरुषों के द्वारा प्रतिष्ठित की गई थी; रीतिकाल में चलकर क्यों तिरोहित हो गई? इस तत्त्व को समझने के लिए उपरिलिखित राजनीतिक परिस्थितियों के मनन के साथ तात्कालिक धर्मगतचेतना को समझना भी आवश्यक है।

धार्मिक चेतना

समस्त उत्तरी भारत में उस समय वैष्णवधर्म की प्रधानता अधिक थी। श्रीकृष्ण का लोकानुरंजनकारी रूप उपर्युक्त विषम परिस्थिति में अधिक उपयुक्त था। समाज के सभी प्रकार के प्राणी इस अनेकरूप अरूप में अपनी इच्छाओं को पूर्ण कर सकते थे। विदेशी और विधर्मी-शासन के अत्याचार से पीड़ित हिन्दू जनता के एक बड़े भाग को "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।" से जो ढाढस मिल सकता था वह किसी दूसरे रूप में नहीं। अपनी शांति के लिए शुद्ध हृदय से हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य चाहनेवालों के लिए भी भगवान् के इस प्रेम-प्रधान रूप से अधिक आकर्षकरूप मिलना कठिन था। इन बातों के अतिरिक्त विलासिता के दलदल में आपाद-मस्तक डूबे हुए उन्नत सम्भ्रान्तवर्ग के मुट्ठी भर लोगों के लिए भी यहाँ कम खिंचाव नहीं था। सूफियों की प्रेम-साधना-भक्ति का भी इससे सुन्दर उत्तर कठिन था। फलस्वरूप कृष्ण-भक्ति को अधिक मान्यता मिली। किन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया इसके भी भेदोपभेद बढ़ते गये, अनेकों गद्दियाँ स्थापित हुईं, गोस्वामी लोग 'गोपीवल्लभ' की आराधना करते हुए भी व्यवहार में दिन-प्रतिदिन लक्ष्मीपतियों के दासानुदास होने लगे। वल्लभ-सम्प्रदाय में विट्ठलनाथ जी की मृत्यु के बाद अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिए भी न कुछ किया गया और न किसी ने मौलिकप्रणयन ही किया। मठाधीशों का अधिकांश समय भगवान् की वास-सज्जा को सुसज्जित करने में लगता था। भगवान् की परिचर्या के निमित्त एकत्र की गई ऐश्वर्य-सामग्री राजभवन के ऐश्वर्य को भी अतिक्रान्त करने लगी। श्रीकृष्ण-मन्दिरों में 'छनकनेवाले देवदासियों के नूपुर-रणन में बादशाहों को भी आकृष्ट करनेवाली क्षमता थी। भक्तिगत तल्लीनता अब महाप्रभु चैतन्य के ब्रह्म के साथ होनेवाली एक भावपरक मूर्च्छाओं में नहीं, देवदासियों के नृत्य-निरत पद-संचालन में ढूँढ़ी जाती थी! जनसाधारण के जीवन से मेल खानेवाला 'लकुटी कामरिया' को धारण करनेवाले कृष्ण की पूजा अब मन्द हो चली थी अतः क्रमशः साधारण जनता के भक्ति-भावपूर्ण उत्साह में भी मन्दता अनिवार्य थी। विहारी की कृष्णादि सम्बन्धिनी रचनाएँ बताती हैं कि कालान्तर में विलासाराधकों द्वारा सम्पूर्ण नायिकाभेद का पूरा-पूरा मिलान कृष्णभक्ति से कर दिया गया था। आडम्बर ही आडम्बर का सर्वत्र बोलबाला था। यह एक ध्यान देने की बात है कि दक्षिण में महाराष्ट्र और पश्चिमोत्तर में पंजाब के कुछ भागों में हिन्दुओं में जागृति को उत्पन्न करने का प्रयास संत तुकाराम, समर्थगुरु रामदास और नानकपंथी गुरु लोग कर रहे थे। इतिहास बताता है कि इन दोनों भागों में जागी हुई हिन्दू चेतना ने मुसलमान साम्राज्य की जड़ें खोदीं और उसके अस्तित्व का गढ़ ढह गया।

स्वत: मुसलमानों में भी न अज्ञानता की कमी थी, न ढोंगीपने की और न लघु-सम्प्रदायगत भेदभावों की, उनमें भी विभिन्न सम्प्रदाय थे। मुसलमानों में भक्तिमूलक आशियाना गजलें और कव्वाली की परम्परा हिन्दुओं के वैष्णवसम्प्रदाय की देखादेखी चली। वीरों के तकियों पर अंधविश्वासी जनता की अपार भीड़ रहती थी। डा० सरकार और डॉ० नरेन्द्र का कहना है कि "उस समय हिन्दू और मुसलमान दोनों गुरु एवं पीरों को ईश्वरवत् मानते थे। हिन्दुओं में लम्बबाहु व्यक्तियों की हनुमान् मानकर पूजा होती थी। ताबीजों पर जनता की बड़ी आस्था थी। शकुन विचार दोनों करते थे।" ये सभी बातें किसी सम्प्रदाय की नैतिक चेतना के निम्नस्तर को सूचित करती हैं। दोनों जातियों की बौद्धिक क्षीणता का डंका औरंगजेब के बाद का इतिहास खुलकर पीटता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्कालीन धार्मिकचेतना भी विकृति का रूप धारण करती चली जा रही थी जिसके फलस्वरूप रीतिकाल की शृंगारिकता का बाहुल्य हुआ। फिर भी कुछ ऐसे कवि इस समय जनता में रहे जो थोड़ी बहुत संस्कृति की रक्षा करते रहे। उनमें भूषण और सेनापति उल्लेखनीय हैं।

मुगलकाल में कला

जिस प्रकार हमने ऊपर विश्लेषण किया है कि वैभव के विकासकाल में कला की उन्नति बहिर्मुखी होती है। मुगलों के शासनकाल में देश धन-धान्य सम्पन्न था (राजदरबारों के विलास-वर्णन को हमने ऊपर दिखाया है) दिल्ली के बादशाह के राजभवन का वैभव समस्त एशिया में अनुपम था। जन-साधारण की वास्तविक स्थिति को पकड़ने का कोई निर्विकल्प-सूत्र आज यद्यपि उपलब्ध नहीं है फिर भी यह निश्चित है कि सामन्तवादी-युग में जनता का श्रमजीवीवर्ग रोटी और वस्त्र के लिए तड़पता है, उसके श्रम का शासकों की दृष्टि में समुचित मूल्यांकन नहीं होता। लेकिन यह भी जान लेने की बात है कि रीतिकाल के कलाकार राजदरबाराश्रित थे तथा उस काल की कलाएँ राज-दरबारों में ही फलीं और फूलीं। वहाँ वैभव की कमी नहीं थी।

मुगलों के शासन में बहिर्मुखी ही सही, लेकिन सभी प्रकार की कलाओं का परि-पूर्ण विकास हुआ। इतिहासकार इस बात को बताते हैं कि उस समय भारतवर्ष में चाँदी, सोने तथा जवाहरातों का काम बड़े अव्वलदर्जे का होता था। यहाँ के कलापूर्ण कालीन की दूर-दूर के देशों तक में माँग थी। मुगलकाल में बनीहुई अनेकों भव्य-इमारतें, उनपर की गई चित्रकारियाँ आज भी कलामर्मज्ञों को आश्चर्यचकित कर देती हैं। ताजमहल, दिल्ली का लालकिला उसके दीवान-खास का कलात्मक सौन्दर्य इसके ज्वलन्त उदाहरण है। शाहजहाँ के समय में मुगलकालीन कलाओं की अभ्युन्नति अपनी पराकाष्ठा पर थी। सौन्दर्यगत, सूक्ष्म और कोमल का ऐसा विचित्र संयोग आज भी विश्व के इतिहास में बेजोड़ है। प्रसिद्ध चित्रकार मौलाराम* की कलाकृतियाँ उस काल की चित्रकला के सूक्ष्म-सौंदर्य को अभिव्यक्त करने के लिए पर्याप्त हैं।

औरंगजेब चूंकि नग्न-कूटनीतिज्ञ था इसलिए अरसिक भी। फलतः हम देखते हैं कि इसके शासनकाल में कला-विकास अवरुद्ध ही नहीं हुआ, पतनोन्मुख भी हुआ। उसके निर्मम-शासन मे स्थापत्यकला के उत्कृष्ट नमूने—अनेकों मन्दिर भूमिसात् किए गये। विश्व के सौन्दर्य-प्रिय समीक्षक उसके इस जघन्यपूर्ण अपराध को अधिक क्षमा नहीं कर सकते। हम मानते है कि उसके समय में दिल्ली की जामामसजिद और लाहौर की शाहीमसजिद का निर्माण हुआ लेकिन वह निर्माण उसकी कलाप्रियता के कारण से न होकर अन्ध-धार्मिकता के कारण से हुआ था। इसीलिए उनमें कला का वह रूप नहीं निखर पाया जो शाहजहां के काल में निखरा। प्रसिद्ध कला-समीक्षक फर्ग्युसन ने ऐसी राय व्यक्त की है।

---

*गढ़वाल श्रीनगर का रहनेवाला।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद जैसा कि उस काल का राजनीतिक विश्लेषण कर रहे हैं, हमने लिखा है, मुगल-साम्राज्य छिन्न-भिन्न उन्मुख हो चुका था, उसकी शक्ति क्षीण हो गई थी और वैभवकाल का ह्रास हो रहा था। धन की इस कमी के कारण से राजदरबारों में कलाकारों को आश्रय मिलना कम होता जा रहा था, इसलिए कला-कृतियों की न्यूनता स्वतः हो रही थी। अशान्ति तथा अव्यवस्था बढ़ती जा रही थी, इसलिए उच्चतम आदर्श की सुस्थिरता के अभाव में कलाएँ क्रमशः निर्जीव हो रही थीं। सच्ची बात तो यह है कि कला के क्षेत्र में शाहजहाँ के काल की मौलिक प्रतिभा औरंगजेब के बाद मिलती ही नहीं।

रीतिकालीन-कला के मान्य-समीक्षक डाक्टर नरेन्द्र, डा० स्मिथ और रामकृष्णदास ने जहांगीर के समय की चित्रकला की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। इनके अनुसार जहाँगीर-कालीन चित्रकला का विशिष्ट-चैतन्य शाहजहाँ, के दरबार के गंभीर शिष्टाचार में विलुप्त हो गया, जहाँगीर मर्यादावादी था उसने कलाकारों को दरबार के आंतरिक जीवन में प्रवेश करने की आज्ञा नहीं दी। दरबार के ऐश्वर्य का तड़क-भड़कपूर्ण चित्रांकन उस काल की चित्रकला में अधिक है। अलंकरणों का प्राचुर्य और रंगों का सूक्ष्म प्रयोग इस काल की चित्रकला की विशेषताएँ हैं। इनमें भावव्यंजना अतिक्षीण और जीवन की उष्णता का अभाव है। अठारहवीं शताब्दी 'जब चित्रकला क्रय-विक्रय की वस्तु बन गई, कला-ह्रास की पराकाष्ठा थी।' औरंगजेब ने बीजापुर के "असर महल" और "अकबर के मकबरे" की चित्रकारिता को मिटाकर घोर अनर्थ किया। यह उसकी अरसिकता का प्रमाण है।

औरंगजेब से लेकर ईस्ट इन्डिया कम्पनी के आरम्भ काल तक—अवध, मुर्शिदाबाद और हैदराबाद आदि नवाबों के आश्रय में जो चित्रकला विकसित हुई उसमें अन्तःपुर के रास-रंग से सम्पर्क रखनेवाले शृंगारिक-चित्रों की ही अधिकता थी।

'राजस्थानी-चित्रशैली का सम्बन्ध तब भी लोक-जीवन से था उस पर हिन्दुओं की दार्शनिकता की छाप थी लेकिन राजपूताने के अनेकों राजाओं के मुगल-खानदानों से निकटतम सम्बन्ध होने के बाद उसमें भी उसका पूर्ण अपनत्व नहीं रहा—इस काल के शृंगारिक चित्रों में मानो रीतिकाल का साहित्य चित्रित है। कांगड़ा-शैली के चित्र रहस्यात्मक अधिक हैं। इनमें समस्त रसों और भावों की पूरी व्यंजना प्राप्त होती है। कांगड़ा शैला का स्त्री-सौन्दर्य का चारुअंकन बेजोड़ है। जंगल, पथिक और अभिसार करनेवाले प्रेमी-प्रेमिकाओं के चित्रों का छाया-प्रकाश चित्रकला के इतिहास में अनुपम है।'

रीतिकाल में संगीतकला की अवस्था बड़ी शोचनीय थी—संगीत के प्रति शाहजहाँ जितना अनुरक्त था औरंगजेब उतना ही विरक्त। फिर भी प्रसिद्ध संगीतज्ञ भागीरथ राणा-अनूपसिंह के दरबार में रहते थे। मोहम्मदशाह रंगीले के समय में संगीत में फिर से

जीवन आया। शोरी मियाँ का टप्पा-गायन इसी समय का आविष्कार है। मोहम्मदशाह के समय में हिन्दू-फारसी शैली के मिलान से अनेकों ध्वनियों और संगीतशैलियों की उत्पत्ति हुई। यद्यपि ये सब शृंगारपरक हैं। श्रीनिवास का "राग-तत्वविबोध" इसी काल की संगीत-शास्त्रीय रचना है। तुलजेन्द्र भोंसले की 'संगीत-सारामृतम्' और 'रागलक्षणम्' नामक दो पुस्तकें मिलती हैं। १८७० में संगीत पर मोहम्मदरजा ने 'नग़माते आसफी' नामक संगीतशास्त्र सम्बन्धी एक पुस्तक लिखी। इनके अतिरिक्त जयपुराधीश राजा प्रतापसिंह के प्रयासों से 'संगीत-सार' की सृष्टि हुई। कृष्णानन्द व्यास ने भी सगीत-शास्त्र-सम्बन्धी कुछ रचनायें लिखीं। ठुमरी, लखनऊ के वाजिदअलीशाह का आविष्करण है। इन अपवादों को छोड़कर संगीत की कोई विशेष मौलिक उद्भावना रीतिकाल में नहीं हुई, चित्रकला के जैसे बाह्यअलंकरण ही उसका टिकाव रहा, जीवन की गहराई तक पैठने का प्रयास इस दिशा में नहीं हुआ। विलास-प्रियता में संगीत का भी बड़ा हाथ रहता है पर इस काल में विलास का नग्ननृत्य होने पर भी सहायक संगीत की जो अभिवृद्धि होनी चाहिए थी, नहीं हुई और उसमें जिस विह्वलता के दर्शन होने चाहिए थे वह नहीं आने पाई। चित्रकला और काव्यकला की तो रीतिकाल में एक परिपाटी चली पर संगीत का क्रम मन्द ही क्यों रहा? जितनी बातें हमने ऊपर कही हैं उतने से तो संगीत जैसी सूक्ष्म-कला की क्षमता का आभासमात्र ही मिलता है—अस्तु।

रीति-वक्रोक्ति और ध्वनि

रूप और लक्षण

वामनाचार्य ने "विशिष्टा पदरचना रीतिः" (काव्य दोषरहित एवम् काव्य-गुणयुक्त सालंकृत पदरचना) कह कर अपने रीति-सम्बन्धी सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया है। उन्होंने गुणों—प्रसाद, ओज, माधुर्य को काव्य का नित्यधर्म और अलंकारों को अनित्यधर्म माना है। कुन्तक ने 'कविप्रस्थान हेतुः' आनन्दवर्द्धनाचार्य ने 'वाच्य वाचक चारुत्वोत्कर्ष हेतु' और भोज ने 'काव्यमार्ग' कह कर अपने-अपने ढंग से रीति की व्याख्या की है। वामन की रीति और आज की शैली, पूर्णतः पर्य्यायवाची नहीं है। शैली का सम्बन्ध कवि-व्यक्तित्व से जितना घनिष्टतम है उतना वामन की रीति का नहीं। डा० डे के शब्दों में 'रीति सर्वथा वैयक्तिक रचना-कौशल' है। उनके मत से पूर्णतः सहमत न होते हुए भी इतना स्पष्ट है कि वामन रचना चमत्कार को काव्य में विशेष महत्त्व देते थे—उन्होंने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहा है। लेकिन वे इसके प्रवर्त्तक नहीं थे। उनसे पहिले भी शब्दाडम्बर के लिए रीति का प्रयोग होता था। वामन ने जिन गुणों को काव्य का नित्यधर्म माना है बीजरूप में वे भरत मुनि के दोषाभाव विवेचन में मौजूद हैं। ऊपर हमने जिन तीन गुणों का उल्लेख किया है उनके सर्वप्रथम रूपकर्ता भामह हैं। आनन्द-वर्द्धन आदि आचार्यों ने आगे चलकर इन्हीं को मान्यता दी है। दण्डी ने भी अपने 'काव्या-दर्श' में इन गुणों के महत्त्व को स्वीकार किया है। वामन को इस सिद्धान्त की विधिवत् प्रतिष्ठापना करने का श्रेय है। रुद्रट ने वैदर्भी, गौड़ी एवं पाञ्चाली के अतिरिक्त लाटी को भी एक अलग रीति माना है। रीति के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त की भी वही धारणा है जो आनन्दवर्द्धन की। कुंतक ने देशानुसार रीति-विभाजन को अनावश्यक माना। उनके परवर्तीकाल में काव्य में रीति का वह महत्त्व माना गया जो पहिले था इसलिए मौलिक-सिद्धान्तों की स्थापना का सवाल ही नहीं उठता। मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ ने रीति को रसपरिपोषक-तत्त्व के रूप में ही स्वीकार किया है। क्योंकि रस-शास्त्र की पूर्ण-प्रतिष्ठा हो चुकी थी इसलिए इस पर अधिक विवेचना की गुजायश भी नहीं थी।

कुंतक वक्रोक्तिवादी थे, वे इसे काव्य-प्राण मानते थे। 'वैदग्ध, भंगी, भणिति, उक्ति-वैचित्र्य उनके विवेचन में वक्रोक्ति हैं। उनकी वक्रोक्ति अपनी लक्षणगत व्यापकता में न केवल समस्त अलंकारों को अपितु प्रबन्ध-कौशल को भी अपने में समाविष्ट कर देती है। उनका यह उक्ति-वैचित्र्य कवि-प्रतिभा पर निर्भर है। कवि-प्रतिभा के अन्वेषक भट्ट तौत थे। वक्रोक्ति के महत्त्व का संकेत भामह ने भी किया था। कुंतक ने इसके छः भेद किए हैं:—१—प्रबन्ध वक्रता २—प्रकरण वक्रता ३—वाक्य वक्रता ४—प्रत्यय वक्रता ५—पदपूर्वार्ध वक्रता ६—वर्णविन्यास वक्रता।

प्रबन्धवक्रता से उनका तात्पर्य समूची कथा के घटनाविधान प्रबन्ध-कौशल से है। इसमें रसोत्कर्ष की भी महत्ता है। इसमें कवि प्रख्यात कथा की घटनाविशेष पर एक आकर्षक ढाँचा खड़ा करता है।

प्रकरणवक्रता का भी सम्बन्ध प्रकरणविशेष है—जैसे अभिज्ञान-शाकुन्तल में दुर्वासा-शाप प्रकरण की उद्भावना। प्रकरणवक्रता से कवि मूलकथा में रमणीयभाव उत्पन्न करता है।

वाक्यवक्रता में अर्थालंकारों का अन्तर्भाव हो जाता है।

प्रत्ययवक्रता में प्रत्यय के वक्रप्रयोग द्वारा वैचित्र्य की उद्भावना की जाती है और प्रयोगों का समर्थ-विन्यास किया जाता है।

पदपूर्वार्ध वक्रता—में तीन प्रकार की विच्छित्रता कुन्तक ने मानी है। रूढि, पर्य्याय और विशेषणवक्रता। रूढा लक्षणा के प्रयोग रूढिवक्रोक्ति के अन्तर्गत आते है। पदगत उज्ज्वलता पर्यायवक्रता और विशेषणादि का चारुप्रयोग विशेषणवक्रता मानी गई है।

वर्णविन्यासवक्रता में शब्दालंकार और वृत्तियों का नाद-सौन्दर्य निहित माना गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्तिवैचित्र्य कुन्तक की वक्रोक्ति का अनिवार्य अंग है। सभी तरह के काव्य इसकी सीमा में आ जाते हैं। कुन्तक ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत मानते है। कवि-प्रतिभा-व्यापार उनकी दृष्टि में अनिर्वचनीय है। उनके विचार में कवि असाधारण व्यक्ति है और वह असाधारणता उसे जन्मान्तर के पुण्यों से मिलती है। उनके मत से 'रस,—काव्याह्लाद भी उक्तिवैचित्र्योद्भव होता है।

ध्वन्यालोक ध्वनिसम्प्रदाय की मान्यतम रचना है। विक्रमी दशवीं शताब्दी के आरम्भ में इसका रचनाकाल सम्भावित किया जाता है। आनन्दवर्द्धनाचार्य इसके मूल-निर्माता और वृत्तिकार भी है, यद्यपि विद्वानों में इस बात को लेकर मतभेद है। डा० संकरन ने एक ही व्यक्ति को मूल और वृत्तिकार माना है, संस्कृताचार्यों के अनुरूप जब कि प्रो० काणे आदि इन्हें दो अलग-अलग व्यक्ति मानते हैं। जो कुछ भी हो इतना तो निश्चित है कि संस्कृत-लक्षण ग्रंथों की परम्परा में आनन्दवर्द्धनाचार्य का ध्वन्यालोक सर्व-प्रथम ग्रंथ है। जिसमें काव्य-सम्बन्धी एक सार्वभौमसिद्धान्त की प्रतिष्ठा की गई है। इसके पूर्व के सभी ग्रंथ एकांगी थे। इनके पूर्व रस-सिद्धान्त का क्षेत्र भी अतिसंकीर्ण था। वक्रोक्ति और रीति-सिद्धान्त ने काव्य के बाह्यांगों का ही स्पर्श विशेषरूप से किया; किन्तु काव्यात्मा की स्थिररूपता की पूर्णघोषणा वे न कर सके। ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन के बाद तन्मतानु-

यायी ध्वनिकारों ने भी 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' की घोषणा की और यत्किञ्चित् लालित्य सम्पन्न रचना को भी उन्होंने काव्य होने की बात निर्भयता से कही। उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन भेदों का अध्याहार भी ध्वनि-सिद्धान्त के आधार पर अन्तरित किया गया। उन्होंने ध्वनि के रस, अलकार और वस्तुभेद से तीन भेद किये, इसी भेदभित्ति के आधार पर काव्यभेद की नीव डाली गई। रस की अखण्डसत्ता और महत्ता ध्वनिकार ने भी स्वीकार की किन्तु काव्य-समीक्षा के विस्तार के साथ।

रस एवं शैली

रस सिद्धान्त के अनुसार रसोत्पत्ति सहृदय-हृदय में शाश्वत अवस्था में स्थित रहनेवाले भावों से होती है। भाव हमारे मनोविकारों को कहते हैं। क्योंकि ये मनोविकार वाक् (वाणी), अंगरचना एवं अनुभूति द्वारा काव्यार्थों की भावना कराते हैं। इसीलिए आचार्य मम्मट ने 'वागंगसत्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः' कहा है। साहित्याचार्यों की दृष्टि से भावविवेचन करने से पूर्व पश्चिमी मनोवैज्ञानिकों का भाव-सम्बन्धी मत देना यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

त्रिविध भाव—आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता मानव-हृदय में समय-समय पर समुत्थित होनेवाले भावों को तीन प्रकार का मानते है—इन्द्रियजनित, प्रज्ञात्मक और रागात्मक। उनकी दृष्टि में स्थूल शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले भाव इन्द्रियजनित, मन के ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त करनेवाली शक्ति से सम्बन्धितभाव प्रज्ञात्मक तथा लक्ष्यपूर्ति के लिए प्रयत्नशील मानसिक शक्ति से उत्पन्न होनेवाले भाव रागात्मक या गुणात्मक कहे जाते है। आलंबन और उद्दीपन वस्तुओं के संसर्ग से हमारे हृदय में उठनेवाले तीव्र मनोराग भी रागात्मक-भावों के अन्तर्गत माने जाते है। प्रज्ञात्मकभाव विशेष अनुभवजनित होने के कारण इन्द्रियजनित भावों के पोषक होते हैं।

वस्तुतः इन भाव-भेदों से कहीं अधिक स्पष्ट वे है जो हमारे पूर्वाचार्यों न किए हैं। भारतीय लक्षणग्रथों के अनुसार भाव मुख्यतः चार प्रकार के हैं—स्थायी, विभाव, अनुभाव और संचारी।

स्थायी भाव—विद्वानो का विचार है कि ये भाव सहृदय-सामाजिक के हृदय में सर्वदा सुषुप्ति की अवस्था में रहते है अतः इन्हें स्थायी कहा जाता है। वस्तुतः ये हृदय के संस्कार है। स्थायीभाव अन्य सजातीय या विजातीय भावों से विच्छिन्न नहीं होते। जबतक मन में यह भाव रहता है तब तक इसी की प्रधानता रहती है अन्य भाव उसके पोषक-रूप में उठते और विलीन होते रहते हैं। प्रत्येक भाव को आत्मसात् करने की क्षमता समुद्रवत् इन भावों में रहती है। परिपूर्ण रसनिष्पत्ति तक इनकी जाग्रत उपस्थिति रहती है इसलिए भी इन्हें 'स्थायी कहा जाता है।'

इनकी संख्या के सम्बन्ध म विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। भरत मुनि ने केवल रति, हास, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शोक में आठ स्थायीभाव माने हैं। साहित्यदर्पणकार पंडित विश्वनाथ आदि ने इनमें 'शांत' जोड़कर इनकी संख्या नौ बनाई है। कुछ परवर्ती आचार्यों ने इनमें भक्ति और योग को भी जोड़ा है। जहाँतक

बहुविद्वज्जन-सम्मति का प्रश्न है वह कवि विश्वनाथ, आचार्य मम्मट और कविराज जगन्नाथ के पीछे है। इन सब विद्वानों ने स्थायीभाव और स्थायीभावोत्पन्न रसों की संख्या नौ मानी है।

विभाव—विभाव वे भाव हैं जो सुषुप्त स्थायीभाव को जागृत कर उद्दीप्त करते हैं। ये ही स्थायीभावों में आस्वाद-योग्यता के अंकुर उत्पन्न करते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं, आलंबन और उद्दीपन। स्थायीभाव को जागृत करनेवाले भाव आलंबन तथा उद्दीप्त करनेवाले उद्दीपन कहे जाते हैं। किसी सीमा तक ये संचारीभावों को भी उदित करते हैं। उदाहरण के लिए 'वीर' में 'शत्रु' आलम्बन और उसकी 'ललकार' उद्दीपन होगी। संयोग-शृंगार में नायक-नायिका आलम्बन और एकान्त वातावरणादि उद्दीपन होंगे।

अनुभाव—पश्चात् अर्थ में 'अनु' उपसर्ग संस्कृत में प्रयुक्त होता है। स्थायीभाव के जागरण एवं उद्दीपन के अनन्तर नायक-नायिका के शरीर में जो भावसूचक बाह्य-लक्षण पैदा होते हैं उन्हें अनुभाव कहा जाता है। इनके भी 'कायिक' एवं 'सात्त्विक' ये दो भेद विद्वानों ने किए हैं। कुछ ने 'मानसिक' और कुछ ने 'आहार्य्य' भी अनुभाव-भेद माने हैं। स्थायीभाव के कारण उत्पन्न हुए मनोविकार को मानसिक, आंतरिक अनुभूति के सूचक शारीरिक लक्षणों को कायिक और मन की अत्यन्त विह्वलकारी दशा से उत्पन्न हुए स्वेद, रोमांच, प्रलय, स्वरभंग आदि सात्त्विक-अनुभाव कहे जाते हैं। आहार्य्य का सम्बन्ध वेषभूषा से है अतः वह अभिनय का अंग है। अनुभाव यों अनन्त हैं लेकिन सात्त्विकों की संख्या आठ आचार्यों ने निश्चित की है। स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय (मूर्च्छा)'।

संचारी—स्थायीभाव को पुष्ट करने के लिए उदित होनेवाले भावों को संचारी कहा जाता है। संचरणशील होने के कारण ही इन्हें संचारी कहा जाता है। वस्तुतः ये नियत नहीं होते, एक रस का स्थायीभाव दूसरे का संचारी हो सकता है। 'शोक' करुणरस का स्थायीभाव है लेकिन विप्रलम्भ-शृंगार में वह संचारी है, इसी प्रकार 'भय' भयानकरस का स्थायीभाव होते हुए भी शृंगार में संचारी हो जाता है। अस्तु फिर भी विद्वानों ने इनकी संख्या तेंतीस की है, देवकवि ने छल से एक अन्य संचारी भी माना है। वस्तुतः इनको नियत किया नहीं जा सकता। मानव-अनुभूतियो की यदि सूक्ष्म-मीमांसा आज की जाए तो इनकी संख्यावृद्धि निश्चित है।

रस—भरतमुनि ने 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' कहा है। इसका सीधा अर्थ है स्थायीभाव से विभाव, अनुभाव और संचारी-संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। इसमें 'संयोग' एवं 'निष्पत्ति' शब्दों के परवर्ती आचार्यों ने भिन्न-भिन्न अर्थ लगाए, फल-स्वरूप 'रस' को लेकर संस्कृत लक्षणग्रन्थों में कई 'वाद' चल पड़े जिनमें मुख्य हैं उत्पत्ति-वाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद और अभिव्यक्तिवाद।

उत्पत्तिवाद—इस वाद के जन्मदाता थे आचार्य भट्ट लोल्लट। उन्होने निष्पत्ति का अर्थ लगाया उत्पत्ति और संयोग का सम्बन्ध। वे रस को कार्य और विभावादि का कारण मानते हैं। इस सम्बन्ध में सब से पहिली अड़चन तो 'रस तथा विभावादि में कार्य-कारण सम्बन्ध मानने में है। कारण और कार्य का पूर्वापर सम्बन्ध होता है—कारण के पीछे कार्योत्पत्ति होती है। जब कि विभावादि का दर्शन और रसास्वादन साथ-साथ होता है, इसके अतिरिक्त कारणानन्तर कार्य-अस्तित्व में रह सकता है, जब कि रस-स्थिति विभावादि के प्रत्यक्षदर्शन तक ही रहती है। इन बातों के अलावा भट्ट लोल्लट की यह धारणा भी युक्ति-संगत नहीं कि रसाश्रय केवल नायक नायिकादि पात्र हैं। आज के विचारक रसाश्रय सहृदय सामाजिक को मानते है। यदि 'रस' से तात्पर्य अनिर्वचनीय लोकोत्तर आनन्द से है तो निश्चय ही अभिनेता अभिनयकाल में रसाश्रय नहीं हो सकते। अभिनय करने की सतत-जागरूक-भावना उन्हें रसानुभव से दूर रखती है। सही-दृष्टि से यदि देखा जाय तो अपने हाव-भाव चेष्टानुकरण द्वारा उन्हें रस का भी अभिनय करना पड़ता है।

अनुमितिवाद—आचार्य शंकुक इस वाद के प्रवर्तक थे। उन्होंने निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति लगाया। वे 'विभावो' को 'अनुमापक' तथा 'रस' को 'अनुमाप्य' मानते है। उनके विचार में नट (अभिनेता) में रस का अनुमान-मात्र किया जाता है। उसके कुशल-अभिनय से दर्शक, नट को ही वास्तविक-नायक मान बैठते है। नायक की मनोवृत्तियो का उसमें आरोप कर दर्शक चमत्कृत होकर स्वतः लोकोत्तर आनन्द (रस) मग्न हो जाता है। श्री शंकुक भी एक प्रकार से उलझ गये हैं। वे इस बात का स्पष्टीकरण नहीं कर सके कि पाठक भ्रान्तिवश नट को नायक समझता है या जानबूझकर उसमें नायक के भावों का अनुमान करता है? यदि जानबूझकर, अनुमान करता है तो अनुमानमात्र से उस चमत्कारपूर्ण आनन्द की प्राप्ति असम्भव है जिसे 'रस' कहते हैं। फिर उन्होंने भी 'रसाश्रय' का स्पष्टीकरण नहीं किया। वे नायक को रसाश्रय मानते हैं। एक सहृदय सामाजिक होने के नाते यों रसाश्रय वह भी है लेकिन लौकिक प्रपंच में स्वतः लिप्त 'रस' का स्वतः आलम्बन होकर वह काव्य के 'रस' का आधार कैसे हो सकता है। इसका समुचित उत्तर यहाँ नहीं है।

भुक्तिवाद—यह सिद्धान्त आचार्य भट्टनायक का है। इन्होंने प्रेक्षक के हृदय में रसावस्थिति मानी है। उन्होने रस निष्पत्ति की इन प्रक्रियाओं को माना है—अभिधा, से द्वितीय भावकत्व और भोजकत्व। अभिधा काव्य के सामान्य अर्थबोधन की शक्ति है। भावकत्व में काव्य के भावों का साधारणीकरण हो जाता है अतः वे प्रेक्षकों के भी अपने बन जाते है। जिस क्रिया से इस साधारणीकृत स्थायीभाव का रसरूप में भोग होता है उसे भोजकत्व कहते हैं। इस भोग को ही भट्टनायक ने 'निष्पत्ति' माना है। यह भोग

प्रेक्षक में सतोगुण की वृद्धि करता है जिससे लौकिक-आनन्द का उसके हृदय में प्रकाश होता है। अपनी अलौकिकता के कारण ही यह आनन्द-रस ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा जाता है।

अभिव्यक्तिवाद—अभिव्यक्तिवाद के आचार्य श्रीअभिनव गुप्त हैं। इन्होंने भट्ट नायक की 'भावकत्व' और भोजकत्व इन नई प्रक्रियाओं का उन्हें व्यंजना और ध्वनि के अन्तर्भूत मानकर विरोध किया है। उनका कहना है कि भावकत्व तो भावों का गुण है ही। रस भी 'आस्वाद्यत्वाद्रसः' भोगयुक्त होने के कारण 'रस' है। अतः भोजकत्व को भी उनके विचार से अलग शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं।

मधुमतीवाद भूमिका और साधारणीकरण—संस्कृत के आचार्यों ने मधुमती भूमिका काव्य के मनन, श्रवण और नाटकादि में दर्शन से उद्भूत सहृदय सामाजिक के हृदय की उस अवस्था को कहा है जिसमें दृश्यमान या अनुभूयमान पदार्थ के प्रति वितर्क की स्थिति नहीं रहती। इस स्थिति के उत्पन्न होने पर पाठक या दर्शक की पदार्थ के प्रति द्वैतबुद्धि नहीं रहती 'प्रतिभाशाली' कलाकार अपने सात्विक संस्कारों की प्रबलता के कारण देश-काल की सीमा से बहिर्भूत होकर विश्वव्यापी प्राणों के सुख-दुःखादि भावों को स्वकीय के रूप में अनुभव करता है। विराट् ब्रह्माण्ड को अपने अन्तर में प्रत्यक्ष देखनेवाले योगी की स्थिति में पहुंचे हुए कलाकार की समर्थवाणी अपने दर्शक, पाठक और श्रोता में भी इसी अवस्था का जागरण कर लेती है। फलस्वरूप रचना में वर्णित पात्रों के सुख-दुःखादि से उसकी आत्मा भी विलोडित हो उठती है, उनके साथ ही वह रोता या हंसता है। अपने पात्रों के साथ रोने या हंसाने की यह क्षमता जिस काव्य या साहित्यभेद में जितनी होती है उसका कलात्मक मूल्य भी उतना ही अधिक होता है। देश और काल की सीमाओं को अतिक्रान्तकर मानव-मात्र को इस स्थिति में पहुंचानेवाली काव्य-कृतियां, विश्वजनीन मानवता की सम्पत्तियाँ हैं। 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' 'उत्तररामचरित्र' 'रामचरित-मानस' आदि रचनायें इसी कोटि की हैं।

यही भावों का साधारणीकरण है। सत्काव्य भावों को व्यक्ति-विशेष की संकुचित सीमाओं से निकालकर विश्वोन्मुख करता है। इसीलिए 'मानस' का पाठक राम-द्वारा परित्यक्ता-सीता के करुण-क्रंदन में हाहाकार कर उठता है, पुत्र-शोकाकुल-दशरथ के घुटते-प्राणों के साथ उसके प्राण भी घुटते से प्रतीत होते हैं—आदि।

शैली—शैली से तात्पर्य रचना-चमत्कार से है। इसमें शब्द-योजना वाक्य-प्रयोग उनकी बनावट और ध्वनि आदि आते हैं। सूक्ष्मदृष्टि से यदि विवेचन किया जाय तो शैली ही वह मुख्यतत्व दीखता है जिसके कारण किसी रचना में मौलिकत्व आता है। जहाँ तक मनोव्यापारों का प्रश्न है, वे शाश्वत हैं। हर्ष, शोक, क्रोध, घृणा और प्रेम आदि भाव चिरन्तन हैं। साहित्य में पात्रों के माध्यम से इन्हीं का उद्घाटन होता है। भावपक्ष

काव्य का अन्तःपक्ष है। कलापक्ष का सम्बन्ध उसके शब्दार्थरूपी शरीर से है। शरीर के विना प्राणों के अस्तित्व की कल्पना भी कष्टकर है। भाव, विचार या कल्पना-सौंदर्य को रचना के रूप में सौंदर्य के विना अभिव्यक्त करना कठिन है। मनुष्य स्वभावतः सौंदर्यप्रिय प्राणी है। स्वास्थ्यवर्द्धक भोजन को भी वह स्वच्छ और चित्ताकर्षक बर्तन तथा स्थान में खाना पसन्द करता है। ठीक यही बात काव्य के विषय में भी है। महाकवि कालिदास ने क्षण-क्षण में नूतनत्व की प्रतीति करानेवाले तत्व में सौंदर्यरूप की कल्पना की है—'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयतायाः' यह रूप-गत नूतता-प्रतीति निश्चय ही शैली से आती है।

अलंकार—अलंकारों से तात्पर्य शब्दों और अर्थों के चमत्कार से है। अलंकारों का वर्गीकरण विद्वानों ने तीन नाम से किया है—शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार। शब्दालकारों में चमत्कार का आधार केवल शब्द होता है। संस्कृताचार्यों ने शब्दालंकार-प्रधान काव्य को अधम काव्य माना है। अर्थालंकारों का सम्बन्ध अर्थगत-चमत्कार से है। भावोद्वेलन में कुछ अर्थालंकारों का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है अतः कुछ आचार्यों ने तो इसीलिए अलंकारों को काव्य का सर्वस्व मान डाला। इस पर तर्क वितर्क के लिए यहाँ अवकाश नहीं। लेकिन इतना स्पष्ट है कि अलंकार काव्य की रूप सुसज्जा में पर्याप्त योग देते हैं। यद्यपि हैं ये काव्य के अस्थिर धर्म।

छन्द भी शैली के ही अंग हैं।

रीतिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ और सेनापति

रीति का अर्थ हिन्दी में समासतः काव्यरचना-विधान-सम्बन्धी नियमों के लिए होता रहता है। जैसा कि हमने संस्कृत लक्षण-ग्रंथों में देखा है—रीतियों का सम्बन्ध शब्दार्थगत चमत्कार से ही अधिक है। रीति-काव्यों में वस्तु की अपेक्षा उसके आकार की और आत्मा की अपेक्षा शब्दार्थगत अलंकरण की प्रधानता मिलती है। लेकिन हिन्दी के रीतिकाल में रीति का अर्थ कुछ अधिक व्यापक रूप में भी लिया जाता रहा है जिसमें रीति का तात्पर्य प्रणाली से रहा है।

१—कवित रीति कछु कहत हौं, व्यंग्य अर्थ चितलाय।

(प्रताप साही व्यंग्यार्थ कौमुदी)

२—'काव्य की रीति सिखी सुकवीन सों'

(दास-काव्यनिर्णय)

लक्षण लिखकर अपने निर्मित उदाहरणों को देने की परम्परा संस्कृत में भी थी। भानुदत्त, दण्डी और पण्डितराज जगन्नाथ ने ऐसा ही किया। पण्डितराज जगन्नाथ ने तो गर्व से कहा कि:—

निर्माय नूतनमुदाहरणादुरूपम्,
काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः,
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण।

(रस गंगाधर)

रस गंगाधर के निर्माण में वे कहते हैं कि मैंने लक्षणों के उदाहरण के लिए अपने ही बनाये छन्द रक्खे हैं। दूसरे का कुछ भी ग्रहण नहीं किया। जिस कस्तूरीमृग में कस्तूरी उत्पन्न करने की शक्ति विद्यमान हो वह भला मन से भी अन्य सुमनों की गन्ध सूंघेगा? कुवलयानन्द, एकावली, प्रतापरुद्रयशोभूषण, रसगंगाधर और चन्द्रालोक में यही प्रणाली दृष्टिगोचर होती है। प्राकृतों और अपभ्रंशों में यह प्रवृत्ति और भी विकसित हुई। हिन्दी का रीतिकाल इसी माला की एक लड़ी है। (इसके विषय में विशद विवेचन हम आगे करेंगे) इस प्रकार आचार्यत्व और कवित्व का संमिलन हिन्दी रीतिकालीन परम्परा की एक ऐसी परिपाटी नहीं है जो अपूर्व रही हो।

रीतिकाल की भोगवादी प्रवृत्ति पर पहिले लिखा जा चुका है। सुरा, सुराही और सुन्दरी की पूजा के साथ सरस आदि का संयोग मादकता में वेग पैदा करता है। सत्काव्य-भणितियाँ संस्कृति एवं अभिरुचि के परिष्कार के लिए भी जरूरी है। रीतिकालीन राजाओं, सामंतों, नवाबों के वैभव के ह्रास के बाद भी सांस्कृतिक उच्चता का निर्जीव अहंकार यदि जीवित भी रहा तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह असंभव भी नहीं। आज के नष्टप्राय जमीदारों की हवेलियों का वातावरण इसकी पुष्टि ही करता है। कुछ भी हो, रीतिकाल में दोनों स्थितियां मौजूद थीं। वे विलासी भी थे और उनकी परम्परागत संस्कृतरुचि भी थी। कवि अपने हृदय के उद्वेग से नहीं दूसरों की इच्छापूर्ति के लिए कविता करते थे इसलिए उनकी रचनाओं में कलात्मकता तो निर्विवाद है लेकिन भक्तिकालीन काव्यों की आभा नहीं। कलाकार की स्थिति एक उस चतुर बढ़ई की सी थी जो मालिक की इच्छा को मद्देनज़र रखकर बड़ी सूझ-बूझ से अपनी वस्तुविशेष की रचना में प्रवृत्त होता है। वह पहिले काष्ठ-फलक पर पेंसिल से रेखाएँ खीचकर मालिक की रुचि का चित्रांकन करता है तदनन्तर बसुली चलाता है। ऐसी अवस्था में कला में प्राणों का फूंकना आसान नहीं।

रीतिकाल में आचार्यत्व और कवित्व के साथ चलने का एक और भी प्रबल कारण है। राजदरबारों में ब्राह्मण-वर्ग की प्रतिष्ठा निर्विवाद है तथा उसके ज्ञानभंडार के अनुमान से पूजा का परिमाण भी आज के जैसे घटबढ़कर चलता रहा होगा और ज्ञान की कसौटी थी संस्कृत-पाण्डित्य। आचार्यत्व के अनुकूल चिंतन-मनन के अभाव में आचार्यत्व प्रदर्शन के पीछे यह स्थिति भी काम करती है। इस पर नियंत्रण नही हो सका और यह लगभग दो सौ वर्षों तक चलती रही इसका भी कारण है। श्रोता या पाठक ही अवरोधक होता है। रीतिकाल का श्रोता दरबारों में बैठनेयोग्य स्थितिवाला समुदाय था। संस्कृत उसमें भी कोसों दूर थी फलतः हिन्दी में कविता होती थी। फिर अवरोधन करता कौन? पांडित्य-प्रदर्शन भी चलता रहा—कविता भी होती रही धनोपार्जन होता रहा, विनोद चलता रहा। नवीन सिद्धान्तों की प्रतिष्ठापना के योग्य वातावरण ही नहीं था। विद्वत्ता-प्रदर्शन पूर्व सिद्धान्तों के भाषानुवाद पर चलता था। रिवाज के चलने पर अनुवादों से भूल को पकड़ने का ढकोसला पड़ा और कवि कर्मारंभ के लिए इसकी आवश्यकता मानी जाने लगी। यही कारण है कि रीतिकालीन लक्षणों में अनुवाद की भी पूर्णता नहीं है। अनुवाद से अनुवाद करने की दोषपूर्ण पद्धति चली, इसलिए उनमें भ्रांतियाँ आगे चलकर बढ़ती ही रहीं। लेकिन रीतिकालीन काव्य का महत्त्व लक्षण परिपाटी से न होकर यथा प्राप्त कलाकृतियों से ही होगा।

रीतिकाल में तीन प्रकार की निरूपणशैलियां काम में लाई गईं। उनमें काव्य-प्रकाश की उस शैली पर ही सेनापति चले जिसमें काव्य के सभी अंगों पर यत्किञ्चित् प्रकाश डालने की परम्परा रही है। निश्चय ही रीतिकाल के उन स्वनामधन्य कलाकारों

में सेनापति एक थे जिनमें खोखला-प्रदर्शन न था बल्कि संस्कृत वाङ्मय मनन की ज्ञान-गरिमा भी जिन पर थी। सेनापति के अतिरिक्त उनकी ही कोटि के कवि, आचार्यों में चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, सुरति मिश्र, देव, श्रीपति मिश्र, करण, कवि-दास और प्रताप-साही का नाम उल्लेखनीय है। इन विद्वानों के ग्रंथों में काव्य-लक्षण, प्रयोजन, रस, भाव, ध्वनि और अलंकारादि का समुचित व्यवस्था के साथ निरूपण है। यों आचार्यत्व की अपेक्षा कवित्त्वशक्ति की प्रखरता इनमें भी थी। किन्तु सेनापति की स्थिति इनसे और भी विचित्र है। सेनापति का जन्मकाल माना गया है १६४६ वि० में; जब कि चिन्तामणि त्रिपाठी का जन्म होता है १६६६ वि० में। केशव जो इनसे ३४ वर्ष पहिले अर्थात् १६१२ में पैदा हो चुके थे, जिन सिद्धान्तों को लेकर अवतरित हुए थे, सेनापति का काव्य बताता है कि स्वयं उन्होंने ही उनका अनुकरण नहीं किया। लेकिन काव्यशैली एवं वस्तु-विवेचन की दृष्टि से सेनापति और चिन्तामणि के एक भागी होने पर भी सेनापति आगामी हिन्दी-कलाकारों के लिए अनुकरणीय नहीं हुए। सेनापति रीतिकाल में भी प्रवृत्ति की दृष्टि से अंशतः उसमें होने पर भी अपनी इकाई में एक ऐसा स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व रखते हैं, जिसको किसी भी दिशा से आलोचक पकड़ सकता है। अपने शिक्षागत सम्भ्रान्त संस्कारों के कारण से वे उस मर्यादा के 'रसिक' नहीं थे जो रसिक-परम्परा राजदरबारों में आगे चलकर फली और फूली। उनके श्लेषपूर्ण कवित्तों में परम्परागत संस्कृत-काव्यो की शिष्टतापूर्ण शृंगारिक अभिव्यंजना है। उनका ऋतुवर्णन सत्-काव्योचित-शालीनता से परिपूर्ण है। सत्य तो यह है कि कवि-कर्म का वह विधि-विधान जो सेनापति के काव्य में दीखता है, प्राक्तन संस्कारों की उच्चता और अनवरत अध्यवसाय से ही प्राप्त हो सकता है। रीतिकाल में अध्यवसायी-वृत्ति क्रमशः कम होती गई और सेनापति अकेले ही रहे। सेनापति का ऋतुवर्णन इस बात को भी ध्वनित करता है कि उनका प्रकृति-निरीक्षण आगामी या उनके सम-सामयिक कवियों से भी कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा था। संस्कारों से शालीन-युग-संसर्ग से शृंगारी और निरतर अध्ययन से प्रकांड पडित सेनापति के काव्य में भक्तकवियों का-सा संयम और संस्कृत काव्यों का सा पदलालित्य है। अध्ययन, मनन और भावप्रवणता उनके काव्य-प्राणों की रस-रक्तवाहिनी शिराएँ है।

प्रकृति-चित्रण की परम्परा

मानवसंस्कारों के धरातल पर जीवन की शाश्वत प्रकृति-सौन्दर्य-भावना एवं उसकी विविधानुभूति भिन्न रूपों में मानव अन्तःकरण को विमुग्ध करती रही है उसकी परम्परा है जो कि समय के परिवर्त्तनों को आत्मसात् करती रही है।

वैदिककाल में जब आर्यों का बुद्धिवैभव एवं भावसम्पत्ति का विस्तार होने लगा, तब उनके सामने प्रकृति तथा तज्जन्य पदार्थ दुःखात्मक एवं सुखात्मक प्रभाव-सामग्री के रूप में उपस्थित हुए। सूर्य, चन्द्र, मरुत्, अग्नि, उषा, निशा, पर्जन्य, वन, पर्वत, निर्झर, प्रपात, सरिता, समुद्र आदि सभी वस्तुओं में उन्हें एक आश्चर्यजनक सौन्दर्य दिखाई देने लगा, इस समुत्सुकता ने उनके हृदय में भय, हर्ष, कौतूहल और आश्चर्य की सृष्टि की। वे सभी पदार्थों के आकर्षकरूप को देखकर शान्त न रह सके, उनकी हठीली जिज्ञासा का रूप विस्तृत होता गया। उनकी व्याकुलता सौन्दर्य को प्रत्यक्ष ज्ञान की परिधि में बाँधने के लिए चंचल हो उठी। वे प्रकृति के बाह्य स्थूलरूप को जानने के साथ ही साथ भावना की सहस्र दृष्टि से उसके अन्तर की सूक्ष्म-रमणीयता के दर्शन भी करने लगे। बहिर्जगत् तथा अन्तर्जगत् की शृंखला की कड़ी को जोड़ने का कला-माध्यम काव्य-वाणी बनी। वे प्रकृति के तथ्यरूप-सौन्दर्य को परखने लगे, उसके शाश्वत-सौन्दर्य की अनुभूति से वे आनन्द की स्थिति का अनुमान करने लगे। अपनी अनुभूति को परानुभूति तथा परप्रत्यक्ष का विषय बनाने के लिए उन्होंने कविता करनी प्रारम्भ कर दी।

यद्यपि यह अनुभूति उनके अपने मानसिक, बौद्धिक एवं भाविक पुष्ट धरातल में हृदय के मापदण्ड के कारण विभिन्न हुई किन्तु सामान्य सत्य सब में समान रहा। प्रकृति के विभिन्न रूपचित्रणों की एक व्यापक समष्टि के संतुलन ने धीरे-धीरे मानव और प्रकृति को समीप कर दिया। प्रकृति, आनन्द की वस्तु बनकर मानव को सान्त्वना देने लगी। उसकी छोटी-बड़ी, सुरूप-कुरूप, आकर्षक, भीम, उद्वेजक जो कोई भी वस्तु थी वह मानव के मन को भाने लगी। शरद्कालीन धवल ज्योत्स्ना यदि उसके अन्तःकरण का हरण करने लगी तो पावस की भीमा रजनी भी उसे विमुग्ध करने लगी। प्रत्येक ऋतु उसके आनन्द का स्रोत बन गई। धीरे-धीरे वैदिककाल ही प्रकृति का सर्वत्र प्रभावोत्पादक रूप-ग्राह्य हो गया। प्रकृति-निरीक्षण और तज्जन्य प्रभाव से प्रभावित होने की मानव की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर सबल एवं जागरूक होती रही। जो लोग दुःख-सुख की प्रत्यक्षानुभूति न कर सके उन्हें काव्यानन्द द्वारा संवेदनशील चेतना की प्रत्यक्षानुभूति कराई जाने लगी। चेतना के सुविस्तृत एवं उर्वर धरातल पर यह प्रकृति-चित्रण और निरीक्षण की प्रवृत्ति विकासोन्मुखी होती रही।

जब बाह्य-सौन्दर्य का पूर्ण परिचय इस काल के भावशिल्पियों को मिल चुका तब वे उसमें अलौकिक सौन्दर्य-सत्ता के दर्शन के लिए लालायित हो उठे। "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः। योऽन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥" (जिसने इस द्यावा पृथ्वी को, अन्तरिक्ष एवं अम्बर को स्तम्भित किया है उस शक्ति को हम भाव-श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।

"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम् कस्मै देवाय हविषा विधेम॥"

एक हिरण्यगर्भ शक्ति ही विश्व का आधिपत्य करती है। वही प्राणियों के प्राणों की दात्री है। उसी ने द्यावा पृथ्वी को धारण कर रखा है।

इस प्रकार की भावना उस काल के मानवों की होने लगी, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रकृति के सौन्दर्य ने मानव को उसके निर्माता की झलक दिखा दी। प्रकृति-सौन्दर्य को जिस समय नारी का मनोहर कल्याणकारीरूप देकर एक ऋषि उस ओर हमारे ध्यान को खींचता है उस समय हम उस सौन्दर्यलावण्य की ओर आकृष्ट होकर आत्म-विस्मृति सी कर देते हैं, उसके सौन्दर्य को देखकर अवाक् रह जाते हैं—

उषो देव मर्त्या विभाहि चन्द्र रथा सूनृता ईरयन्ती।
आ त्वा वहन्तु सुमयास्ते अश्वा हिरण्यवर्णा पृथुपाजसोये॥

(हे कमनीय कान्तिवाली उषा देवी! अपने चन्द्र रथपर सत्य का प्रसार करती हुई आभासित हो जाओ। उत्तम नियंत्रित हिरण्यवर्ण (स्वर्णकान्तिवाले) किरणाश्व तुझे दूर-दूर तक पहुँचावें।

"उषो वाजेन वाजिनी मघोनी वाजिनीवती ....."

उषा की नारी रूप में यह सृष्टि प्रकृति सौन्दर्यानुराग की पराकाष्ठा की द्योतक है। ऋग्वेद और यजुर्वेद में प्रकृति-सौन्दर्य के रंगीन चित्र बिखरे पड़े हैं, उन्होंने वास्तव में अपनी सुषमा में ऋषियों की आत्मा को मुग्ध कर उन्हें अखण्ड व्यापक-सत्ता की ओर आत्मसमर्पण के लिए अवश्य विह्वल किया होगा।

प्रकृति की जिस कल्याणकारी रमणीयता ने वैदिककाल में ऋषियों पर अपना अमिट प्रभाव डाला, उसी अनिर्वचनीय सौन्दर्य के दर्शन आरण्यक और उपनिषद्काल के मानव ने भी किये। वहाँ यह सौन्दर्य और भी अधिक प्रस्फुटित हुआ दीख पड़ता है। इस काल में वह सौन्दर्य आत्मा और परमात्मा की, ब्रह्म और जगत् की एकरूपता एवं समष्टि का कारण बन गया। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" की आधारभूमि भी यही सौन्दर्य बना। यही भावात्मक रहस्यवाद का जनक भी बना। खिलेहुए फूल, सभ्रमर-विलासिनी लतायें, सुन्दर मेघमालायें, निखराहुआ चन्द्रविम्ब, अविरलगति से चलनेवाली सरिताएँ, मेघगर्जन में

विद्युत्-प्रसार, प्रकृति के ये चित्र एक विचित्र-सौन्दर्य का दान करने लगे। तभी तो एक ऋषि ने कहा—

अंसेषु सृष्टयः यत्सुखादयो वक्षः सु रुक्मा मरुतो रथे शुभः।
अग्नि भ्राजसो विद्युत् गभस्तयोः क्षिप्रा शीर्षसु क्षिता हिरण्मयी॥

'कन्धों पर भाले, पैरों में जूते, उर पर सुवर्णालंकारयुक्त और रथशोभी मरुतों के हाथों में अग्नि के समान कान्तिमती विद्युत् है। मेघ सुवर्ण-मण्डित शिरस्त्राण धारण किये हुए हैं।'

मेघ को इस रूप में वर्णन करनेवाले ऋषि के हृदय में प्रकृति का मनोहर वीर-रूप अपनी सौन्दर्य-गरिमा की छाप लगा देता है। यह प्रकृति के साथ मानव-सादृश्य का पूर्ण-परिचय है।

रामायण और महाभारतकाल के मानव ने प्रकृति-सुषमा-ज्ञान को अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार में पाया; किन्तु काल-प्रभाव के कारण इस काल में प्रकृति का रूप-सौन्दर्य उस दृष्टिकोण से नहीं देखा गया जिस दृष्टिकोण से उसे पूर्ववर्ती मानवों ने देखा था। अब प्रकृति, आलम्बन और उद्दीपन दोनों रूपों में देखी जाने लगी, उसकी स्वतंत्रसत्ता भी विद्यमान् रही और वह भावोद्दीप्ति का कारण भी मानी जाने लगी। आदि कवि वाल्मीकिजी ने प्रकृति के उभयात्मक रूप का विधान किया है, एक ओर जब वे पम्पासर की छटा दिखाकर राम के शोकावेग को तीव्र गति देते हैं तो दूसरी ओर शरद्-शोभा का स्वतंत्रचित्र भी अङ्कित करते हैं।

पुष्पभार से लदे वृक्षों को देखकर, मधु-मुग्ध-पुष्पों के आस-पास गुञ्जार करतेहुए भ्रमरों की मधुरध्वनि को सुनकर, अशोकवृक्ष को देखकर राम विह्वल होते हैं और कह बैठते हैं—

शक्यो धारयितुं कामो भवेदभ्यागतो मया।
यदि भूयो वसन्तो मां न हन्यात् पुष्पितद्रुमः॥

मैं इस काम-भाव को दबा सकता था यदि यह पुष्पित-द्रुम-वसन्त मुझे पीड़ित न करता।

प्रकृति-सौन्दर्य-मयी मानव की भावनाओं को उद्दीप्त करने की, प्रकृति-वर्णन की प्रभाव-परम्परा इस काल में भी रही पर प्रकृति के सापेक्ष एवं निरपेक्ष चित्रों को उभारने की प्रवृत्ति भी इस काल में रही। जहां प्रकृति का निरपेक्ष-पक्ष-वर्णन का विषय बना, वहाँ

वर्णन अत्यन्त रमणीय एवं विमुग्धकारी हुआ। वाल्मीकिजी का शरद्-वर्णन इसका सुन्दर उदाहरण है। यथा—

तरङ्ग के आघातों से चंचलपत्रवाले कमल अत्यन्त देदीप्यमान् कान्ति को धारण किए हुए हैं। उन लाल कमलों पर भ्रमर बैठेहुए ऐसे प्रतीत होते हैं मानो धूम-सहित अग्निशिखा विराजमान हो रही हो[1]।

एक सरोवर के तट का वृक्ष कुमुद्वती को प्रभातकाल में मुंदतेहुए देखकर रो रहा है। रात्रि में गिरीहुई पाले की बूंदें उसके पत्तों से छनकर धरातल पर गिर रही हैं। ये उसके अश्रु हैं। उस पर बैठेहुए पक्षियों का कल-कल-रव मानो उसके रुदन का शब्द है[2]।

एक व्याध जो मृग को मारने के लिए वन में आया था वह भ्रमर-गुञ्जार को सुनकर मस्तहुआ, जिसकी सभी चेष्टाएं शान्त हो गई थीं, उस मृग पर उत्सुक हंसों की मनोज्ञ-ध्वनि को सुनकर वह बाण ही नहीं छोड़ सका[3]।

इस प्रकार के प्रकृति-सौन्दर्य के प्रभाव ने मानव के अन्तःकरण को सदैव मुग्ध किया है। आत्मविस्मृति की यह भावना वाल्मीकिजी के काव्य में प्रचुरतया पाई जाती है। महाभारत में भी इस प्रकार के वर्णनों एवं चित्रणों की कमी नहीं है।

यह परम्परा अक्षुण्णरूप से आगे चलकर अधिक प्रसरण-शीला होती गई। अपने अन्तर्गत मानव-प्रकृति की भव्यता को जो भी अधिक रूप में भरता गया उसका अन्त.करण उतना ही भव्य, उदार और संवेदनशील बनता गया। कवि के लिए यह भावना एक ऐसी वस्तु सिद्ध हुई जिसके कारण वह निसर्ग-सौन्दर्य की अनुभूति कर सका।

दिङ्नाग, कालिदास, भवभूति, भास, भारवि, माघ, हर्ष, बाणभट्ट, दण्डी इत्यादि कवियों ने इस परम्परा से प्रभावित होकर अपने काव्य में प्रकृति के प्रति उदार, दृष्टि रखी, यही कारण है कि इन कवियों का प्रकृति-निरीक्षण और चित्रण उद्दीपन के रूप में ही नही रहा अपितु उसमें प्रकृति का वह स्वातन्त्र्य भी रहा जो आरम्भ से लेकर आजतक मानव के

१—तरङ्गसङ्घाच्चपलैः पलाशैर्वालाश्रियं सातिशयं दधन्ति।
सधूमदीप्ताग्निरुचीनि रेजुस्ताम्रोत्पलान्याकुलषट्पदानि॥

२—निशातुषारैर्नयनाम्बुकल्पैः पत्रान्तपर्यागलदच्छबिन्दुः।
उपारुरोदेव नदत्पतङ्गः; कुमुद्वतीं तीरतरुर्दिनादौ॥

३—दत्तावधानं मधुलेह गीतौ, प्रशान्तचेष्टं हरिणं जिघांसुः।
आकर्णयन्नुत्सुक हंसनादांल्लक्षे समाधिं न दधौ मृगावित्॥

अन्तःकरण को आकृष्ट करता रहा और उसे अनुभूत-प्रकृति-रमणीयता के वर्णन के लिए विह्वल करता रहा एवं जीवन के प्रति उसे विश्वासी बनाये रहा तथा मानव-सौन्दर्य का आभास भी देता रहा।

कालिदास ने प्रकृति के रूप को समीप और दूर से भी देखा। प्रकृति-सुषमा का सौन्दर्य-चित्रण कालिदास ने इस प्रकार किया है।

वर्षा—नीलकमलपत्र की कान्ति के समान कान्तिवाले, कहीं-कहीं पर अञ्जन के समान कृष्णकान्तिवाले, कहीं पर प्रसवोन्मुखी-प्रमदा के स्तन-मण्डल के समान धूसर कान्तिवाले मेघों से आकाश घिर गया है[१]।

शरद्—काश-रूपी वस्त्रों को धारणकरनेवाली, विकसित कमल के मनोज्ञ-मुखाकृतिवाली मदोन्मत्त हंसों के कलनादरूपी नूपुरों को पहनेहुए, पकेहुए पीले धानों के समान नत-शरीरिणी-शरद्-ऋतु-नववधू सुन्दर प्रतीत होती है[२]।

शिशिर—शिशिर-काल के आते ही लोगों ने अपने घरों की खिड़कियाँ बन्द करके आग जला दी है, कुछ लोग सूर्य-किरणों का ताप ले रहे हैं, गरम कपड़े और युवती-प्रमदायें इस समय जन-मन को प्रिय लगते हैं[३]।

वसन्त—अग्नि के समान रक्तवर्णवाले एवं वायु वेग से प्रचलित किंशुक-कुसुमों के भार से विराजमान वन-भूमि रक्त शारिका धारणकरनेवाली नव-वधू की भांति दिखाई दे रही है[४]।

कामिनियों के मन्मथ को उद्दीप्त करने के लिए वसन्त मत्त-भ्रमर-गुञ्जार से कोकिलों के कल-नाद से, कुसुमित आम्रवृक्षों की शोभा से, कनैल के रम्य-स्तवकों से तीक्षबाणों का काम ले रहा है और उनसे कामिनियों के हृदय को वेध रहा है[५]।

१—नितान्तनीलोत्पलपत्रकान्तिभिः क्वचित् प्रभिन्नाञ्जनराशिसन्निभैः।
क्वचित् सगर्भप्रमदास्तनप्रभैः, समाचितं व्योमघनैः समन्ततः॥

२—काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवस्त्रा, सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।
आपक्वशालिरुचिरानतगात्रयष्टिः, प्राप्ताशरन्नवधूरिवरूपरम्या॥

३—निरुद्धवातायनमन्दिरोदरं, हुताशनो भानुमतोगभस्तमः।
गुरूणि वासास्यबलाः सयौवनाः, प्रयान्ति कालेऽत्र जनस्य सेव्यताम्॥

४—आदीप्तवह्निसदृशैर्मरुतावधूतैः, सर्वत्र किंशुकवनैः कुसुमावनम्रैः।
सद्यो वसन्तसमयेन समाचितेयं, रक्ताशुका नववधूरिवभाति भूमिः॥

५—समदमधुकराणां कोकिलानां च नादैः, कुसुमितसहकारैः कर्णिकारैश्च रम्यः।
इषुभिरिव सुतीक्ष्णैर्मानसं मानिनीनां, तुदति कुसुममासो मन्मथोद्दीपनाय॥

कालिदास का यह ऋतुवर्णन इस बात को सूचित करता है कि इस काल तक प्रकृति के विशुद्धरूप को और उद्दीपकरूप को दोनों को अपनाया जाने लगा था। यह सौन्दर्यमयी जनरुचि का भी द्योतक है। प्रकृति का नारीरूप और कामासक्ति का भाव शृङ्गारी भावना का द्योतक है। कालिदास के सम-सामयिक, पूर्ववर्ती एवं परवर्ती कवियों के काव्य में भी प्रकृति-सौन्दर्य दोनों रूपों में ग्राह्य हो चला था। इस प्रवृत्ति के अंकुरित होने का कारण एतत्कालीन सामन्ती-युग की भावना है। राजाश्रय में रहनेवाले कवियों को इस प्रकार का वर्णन करने का अभ्यास सा हो गया था। इस काल में भवभूति ही एक ऐसे कवि थे जिनके काव्य में प्रकृति-चित्रण स्वतंत्र-रूप में पाया जाता है उन्हें राजाश्रय नहीं मिला था अतः वे प्रकृति को उस प्रकार के उद्दीपकरूप में न देख पाए जिस प्रकार दरबारी कवि। उत्तररामचरित्र में प्रकृति के जो स्वतंत्र और प्रभावशाली चित्र भवभूति ने अंकित किये उसका एकमात्र कारण उनका दरबारी परम्परा से दूर रहना ही हो सकता है। भवभूति ने प्रकृति के भीम और मनोहर रूप देखे—

यह पञ्चवटी का भू-भाग है, जिसमें कहीं-कहीं पर हिंसक जीवजन्तुओं के भय से पशु, पक्षी स्वभावानुकूल निःशब्द होकर अपने को संयत किये हुए हैं। कहीं पर प्रचण्ड मांस-लोलुप हिंसक जन्तुओं की गर्जना हो रही है। कहीं पर स्वेच्छा से सोयेहुए दीर्घ फूत्कार करनेवाले भीषण-काय सर्प पड़े हैं, जिनके श्वास की विषमय-ज्वाला से अग्नि के प्रदीप्त होने का भय रहता है। कहीं पर विदीर्ण-भूखण्डों के अन्दर शीतलता के कारण सुन्दर तथा अल्पजलवाले भूखण्डों में तृषाकुल गिरगिट एवं छिपकलियां तथा छोटे-छोटे प्राणी पेड़ों के नीचे सोयेहुए भयानक सर्पों (अजगरों) के शरीर से टपकते हुए स्वेद-बिन्दुओं को सानन्द पी रहे हैं[१]।

सुरभित-कुसुम-शोभित-कदम्ब की शाखाओं पर मयूरों का नृत्य, लताओं का वृक्षों के साथ विलास, गगनचुम्बी शिखरवाले माल्यवान् की शोभा, उसमें मेघों की क्रीड़ा, बलाकाओं का मञ्जु शब्द प्रकृति के मनोहर सौम्यरूप की अभिव्यक्ति करते हैं[२]।

भवभूति जैसी क्रान्तदृष्टि बहुत ही कम कवियों में मिलती है।

१—निष्कूजस्तभिताः क्वचित् क्वचिदपि प्रोच्चण्ड सत्त्वस्वनाः।
स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगाश्वासप्रदीप्ताग्नयः॥
सीमानः प्रदरोदरेषु विलसत् स्वरुपाम्भसो यास्वयम्।
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते॥

२—सोऽयं शैलं ककुभसुरभिः माल्यवान् नाम यस्मिन्।
नीलः स्निग्धं श्रयति शिखरं नूतनस्तोयवाहः॥

प्रकृति की अनादि मनोहरता की शक्ति को उद्‌भूत एवं अनुभूत कराने में, प्रकृति में चित्त को आसक्त कराने के प्रयत्न में, भास ने भी पूर्ण सफलता प्राप्त की। भास का चित्रण भी प्रकृति के अनुराग का निदर्शन है। भास के वर्णन में तन्मयता है, चित्त के आह्लादित करने की शक्ति है और युग का प्रभाव भी है। तपोवन का यह वर्णन अपनी सुन्दरता का स्वयं ही प्रतीक है—

अपने देश तपोवन में आजाने के कारण विश्वस्त होकर मृग-गण निश्चिन्त और अचकित होकर चर रहे हैं। दया से पाली वृक्ष-शाखायें फल-फूलों से लदी हैं। यहां धूमरी गायें भी चर रही हैं। चारों ओर वित्त भी नहीं दिखाई देता। स्थल-स्थल से होम का धुआँ निकल रहा है। प्रतीत होता है कि यह कोई तपोवन है[१]।

यह सारसों की पंक्ति कहीं सीधी है, कहीं चौड़ी है, कहीं पर घनी और कहीं पर पतली हो गई है। जब कभी यह मुड़ती है तो सप्तर्षि-मण्डल की आकृति के समान वक्र दिखाई देती है, सद्य ही छूटीहुई सर्प की केचुंली की भांति निर्मल आकाश को यह दो भागों में विभक्त कर रही है। मालूम होता है यह अम्बरतक की सीमा रेखा है[२]।

संस्कृत के कवियों की प्रकृति-वर्णन-परम्परा की सफलता को प्राकृत और पाली के कवियों ने भी पाया। इस काल में भी कवियों ने प्रकृति को भलीभाँति परखा और वे भी उसकी छटापर मुग्ध हुए। अपभ्रंश-काल के कवियों तक आते-आते प्रकृति-निरीक्षण का क्रम नितान्त परिवर्तित होने लगा। शृङ्गारी-भावना को इन कवियों ने अपने पूर्ववर्ती संस्कृत के दरबारी कवियों से पाया और उन्हीं के प्रकृति-वर्णन का अनुसरण किया। चन्दवरदायी जैसे कवियों ने जहां प्रकृति का मानवीकरण किया वहां भी संस्कृत के शृङ्गारी-कवियों के अनुयायी ही वे रहे।

चन्दवरदायी के पश्चात् विद्यापति का प्रकृति-वर्णन भी शृङ्गारी-भावना का सच्चा रूप है। मान-वती नारियों के मान को गलित गर्व करने के लिए ही मानो वह लिखा गया।

१—विश्रब्धं हरिणाश्चरन्त्यचकिताः देशागतप्रत्ययाः।
वृक्षाः पुष्पफलैः समृद्धविटपाः सर्वे दयारक्षिताः॥
भूयिष्ठं कपिलानि गोकुलधनान्यक्षेत्रवत्यो दिशो।
निः संदिग्धऽमिदं तपोवनमयं धूमोहि बह्वाश्रयः॥

२—ऋज्वायतां च विरलां च नतोन्नतां च।
सप्तर्षि वंशकुटिलां च निवर्तनेषु॥
निर्मुच्यमानभुजगोदरनिर्मलस्य।
सीमामिवाम्बरतलस्य विभज्यमानाम्॥

वसन्त के स्वागत के लिए वृक्षों के नव-पल्लव बैठने के लिए दे दिये हैं। स्वच्छ-कमल के फूलों को मांगलिक कलश के रूप में उपस्थित किया है। पुष्प-पराग से सुगन्धित मन्दाकिनी का पानी अर्घ्य के लिए दिया और अरुण-अशोक को दीपक के रूप में प्रदान किया है[3]।

नवीनपत्र जयपत्र (जिस पर निर्णय लिखा जाता है) के रूप में है। मधुक-पंक्ति उसपर लिखीगई अक्षर-पंक्ति है। इस विजय-अवसर पर मानिनी नारियों का मान दूर हो गया है[४]।

उन्मत्त वसन्त-समय आ गया है, मदन पीड़ित कर रहा है और प्रिय अकरुण हो गये।

कुसुमित काननों को देखकर कमलमुखी अपने दोनों नेत्रों को बन्द कर देती है। कोकिल के कलरव और मधुकर की ध्वनि को सुनकर कान बन्द कर देती है। यह उन्मत्त बनानेवाला वसन्त-काल आगया है, कुसुमित वनों को देखकर कोकिल के शब्द को सुनकर तो मुनियों के मन में भी मादकता उत्पन्न हो रही है। कवि विद्यापति का वर्षा वर्णन भी इसी प्रकार का है जो भावनाओं को भड़काने का काम करता है[५]।

कविवर विद्यापति का यह प्रकृति-वर्णन, रस-निरूपण-पद्धति के संस्कृत कवियों का न तो पूर्ण अनुकरण है और न रीतिसिद्धान्तों का प्रतीक। इसमें दोनों का समावेश देखा जाता है।

युग की स्थिति और अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल प्रकृति को जो जितना महत्त्व दे सका उसने उतना महत्त्व दिया। परन्तु संस्कृत के कवियों ने साधारण मानव-भावना को सदैव मान्यता दी। उनके बाद की पीढ़ी ने साधारण भावना को गौण और व्यक्ति-विशेष-भावना का अधिकांश आश्रय लिया। आगे चलकर हिन्दी के कुछ प्रेमी भक्त कवियों ने आँख खोलकर प्रकृति-सौन्दर्य को देखा। उनका विशाल क्रान्त एवं व्यापक चक्षुप्रसार प्रकृति-वर्णन के क्षेत्र को विस्तार के साथ देख सका; किन्तु उन प्रेमी भक्त

३—अभिनवपल्लव वइसक देल, धवल कमल फुल पुरहर भेल।
करु मकरंद मँदाकिनि पानि, अरुन असोग दीप दहु आनि॥

४—नवपल्लव जयपत्रक भाँति, मधुकर-माला आखरपाँति।
० ० ० ०
–निरसाएल से मानिनि मान।

५—कुसुमित कानन हेरि कमलमुखि, मूँदि रहे दु नयान।
कोकिल कलरव मधुकर धुनि सुनि कर-देइ झाँपइ कान॥
आइल उनमद समय वसन्त, दारुन मदन निदासन कंत।
आरे, कुसुमित कानन कोकिल साद, मुनिहुक मानस उपजु बिसाद॥

कवियों में भक्ति की भावना का प्राधान्य था अतः उनके प्रकृति-वर्णन में स्पष्टता नहीं आने पाई। फिर भी यह सत्य है कि उन्होंने प्रकृति के प्रति अपना दृष्टिकोण संकुचित नहीं रखा। उनके हृदय में प्रकृति का गाढानुराग था, वे कोरे तमाशबीन ही नहीं थे। जायसी के बारहमासे से इसका आभास मिलता है। दृश्य के साथ हृदय का सामञ्जस्य स्थापित करने में जायसी सिद्धहस्त दिखाई देते हैं—

चढ़ आषाढ़ गगन घन गाजा, साजा विरह दुंदल बाजा।
धूम, साम, धौरे घन धाए, सेत धजा बग पांति देखाये॥
खड़ग बिज्जु चमकै चहुं ओरा, बुंद-बान बरसहिं चहुं फेरा।
* * * * *
जेठ जरै जग चलै लुवारा, उठहिं बवंडर परहिं अंगारा।
उठै आगि औ आवै आंधी, नैन न सूझ मरौं दुख नांधी॥

सर्वसाधारण की भावना का आदर करना और उसे प्रभावोत्पादक रूप देना ही रस का साधारणी-करण है। जो प्रकृति-चित्रण में अत्युपयोगी होता है। जायसी ने व्यक्ति की सामान्य-भावनाओं को प्रकृति के साथ भलीभांति मिलाया हैं। वर्षा-वर्णन भी जायसी का इसी भावना का प्रतीक है।

बंध नाहिं और कंध न कोई, बात न आव कहों का रोई।
सांठि ताठि जग बात को पूछा, बिन जिउ फिरे मूँज तनु छूँछा॥
भई दुहेली टेक बिहूनी, थांभ नाहिं उठि सकै न थूनी।

यह है प्रकृति के स्वतंत्ररूप के साथ मानव-हृदय का सन्निवेश। इसी सन्निवेश के कारण इन प्रेमी भक्त कवियों ने संस्कृत कवियों की भांति यत्र तत्र सादृश्य भावना को अपने काव्य में स्थान दिया।

तनु जस पियर-पात भा मोरा।
पुरवा लाग भूमि जल पूरी, आक जवास भई तस झूरी।

सादृश्यरूप वर्णन में प्रकृति को उद्दीपकरूप में ही नहीं लिया गया अपितु उसमें भावव्यञ्जना की शक्ति भी निहित की गई।

सूरदासजी और तुलसीदासजी ने भी प्रकृति को संयतरूप में एवं सापेक्ष्य सामञ्जस्यात्मकरूप में देखा है। उनके रूप-विधानों में दृश्यों की मनोहरता है और दृश्यावलोकन का प्रकृतिजात परमोत्साह भी।

देखियत चहुं दिसि ते घन-घोरे।
मानौ मत्त मदन के हाथन बल करि बंधन तोरे॥
कारे तन अति चुवत गंड मद बरसत थोरे थोरे।
रुकत न पवन महावत हू पै मुरत न अंकुस मोरे॥

प्रकृति का यह लोक-सुखदायक-रूप स्वतंत्र-रूप है और तभी तो वे "आजु घनश्याम की अनुहारी, उनै आए साँवरे ते सजनी देखि रूप की आरी" कहकर सूत्र साम्य के द्वारा ही भावनाओं की स्वल्प-सान्त्वना प्राप्त करा देते हैं; ये वे प्रकृति वर्णन के स्थल हैं जिन में रूपात्मकता को आनन्दात्मकता में मिला दिया गया है।

गोस्वामीजी का शरद्वर्णन और वर्षावर्णन भी इस प्रकार का है—

वरसा विगत शरद ऋतु आई, लछिमन देखहु परम सुहाई।
फूले काश सकल महि छाई, जनु वरषा ऋतु प्रकट बुढ़ाई॥

और—बरसहिं जलद भूमि नियराये। यथा नवहिं बुध विद्या पाये॥

बुंद अघात सहहिं गिरि कैसे, खल के वचन सन्त सहें जैसे। इत्यादि—

इन वर्णनों में तद्रूपच्छाया के साथ मानवीकरण का उदात्तपक्ष भी विद्यमान है।

इसके पश्चात् आनेवाली पीढ़ी ने प्रकृति के व्यापक-सौन्दर्य-क्षेत्र को संकुचित-दृष्टि से देखना प्रारम्भ किया। प्रकृति-स्थूल रूपपर ही इन लोगों की दृष्टि जाने लगी तथा प्रकृति के नायक-नायिका के मनोगतभावों को उद्दीप्त करने का एक उपाय मात्र समझ लिया। इन की दृष्टि में ऋतुयें आती हैं पर उनका अस्तित्व प्रेमी और प्रेमिकाओं को विक्षुब्ध करने में ही रहता है।

रीतिकाल के कवियों ने परम्परा का निर्वाह अधिकांशतः किया। प्रकृति के क्षेत्र से हटकर शृंगारीभावना की पूर्ति नायक-नायिका के सौन्दर्य-व्यापार में की जाने लगी। मानव-क्रिया-कलाप प्रकृति-व्यापार के साथ-साथ वर्णित किये जाने लगे। नायिका-भेद वर्णन, सहेरस्थान, अभिसार की सरणी, नखशिख-वर्णन आदि रीतिकालीन कवियों की इस प्रवृत्ति की पुष्टि के द्योतक हैं साथ ही मुगलकाल की विलासीवृत्ति ने राज्याश्रयी एवं सामान्य-सामान्य कवियों को शृंगारी-काव्य की ओर आकृष्ट किया। प्रतिभा के अभाव में वे संस्कृत ग्रंथों की शरण में गये और अपने पल्लवग्राही पाण्डित्य के आधार पर बादशाहों, नव्वाबों, राजाओं, मुसाहबों आदि को खुश करने में लग गये। उन्होंने इतना ही कवि-कर्म-विधान को समझा; किन्तु इस युग में कुछ ऐसे भी कवि हुए हैं, जिन्होने परम्परा के अतिरिक्त अपनी मौलिक-प्रतिभा से प्रकृति-व्यापारों का संघटन अपने काव्य में किया। और प्रकृति वर्णन की दरबारी दृष्टि के अतिरिक्त प्रकृति को स्वतंत्ररूप से भी देखा। प्रकृति की मनोहरता उनके लिए उद्दीपक ही नहीं रही उन्होंने उसमें अनिर्वचनीय सौन्दर्य के दर्शन भी किये, जिस सौन्दर्य ने उनके प्राणों को अपनी ओर आकृष्ट करके उन्हें सादृश्यानुभूति की परम उदात्त दृष्टि दी। सेनापति इस प्रकार के कवियों में थे, जिनको प्रकृति पर्यवेक्षण की सहजात प्रतिभा मिली थी। उनका प्रकृति-वर्णन इसका निदर्शन है। सेनापति के पुष्ट-साहित्य की भी अपनी सुनिश्चित एक परम्परा है। जिसका उल्लेख आगे किया गया है।

साहित्य-परम्परा और कवि सेनापति

साहित्य परम्परागत-सम्पत्ति के साथ उपार्जित-सम्पत्ति भी है। उसमें मानवीय भावों का सम्मिश्रण और संरक्षण है। वह सर्वसाधारण की सम्पत्ति होतेहुए भी व्यक्तित्व से संश्लिष्ट रहती है। अनेक कालों में अनेक प्रवृत्ति के मानव होते हैं; उनकी विभिन्न आभ्यन्तर प्रवृत्तियों का एवं मनोवेगों का एकीकरण देश, काल और परिस्थिति के प्रभाव से अपनी एक विशेषता रखता है। साहित्य की यह विशेषता परम्परा से अपना प्रभाव लक्षित एवं अलक्षित रूप से व्यक्त करती रहती है और कभी-कभी उसका बिम्ब ग्रहण किया जाता है। किन्तु कभी-कभी उसकी समस्त प्रवृत्तियां अपना पूर्ण अस्तित्व भी व्यक्त करती रहती हैं।

परिस्थिति

एक समय था जब समस्त देश की भाषा संस्कृत थी, उसका साहित्य भी समृद्ध और गौरवान्वित था। उस काल में मानव-जीवन के सभी पक्षों को लेकर साहित्य सृजन किया गया। दार्शनिक, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक सभी प्रकार का साहित्य उस समय प्रस्तुत किया जा रहा था। उस समय एक पक्ष ऐसा भी था जो जीवन की सार्थकता तत्त्व-चिन्तन में ही समझता था। दूसरा पक्ष वह था जो प्रवृत्तिमार्ग के साथ निवृत्ति-मार्ग को भी सहायक समझता था। इस पक्ष वालों ने सांसारिकता की ओर विशेष ध्यान दिया। यह वर्ग उत्तरोत्तर मानवीय कल्याण और कल्पना के विकास का सहयोगी रहा। इस वर्ग ने साहित्य की अधिक वृद्धि की। नाटक, आख्यायिका, चम्पू, लक्षणग्रंथ, व्याकरणग्रंथ आदि-आदि विविध प्रकार की रचनाएं तब हुई। विभिन्न विषयों के विवेचन और निर्माण में समस्त मस्तिष्क लगे थे।

कालान्तर में जब देश, काल की परिस्थिति में घोर परिवर्तन हुआ और हिन्दी के प्रारम्भिक काल का श्रीगणेश हुआ तब उस समय लोगों का ध्यान प्रत्येक बात के लिए संस्कृत की ओर गया। (प्राकृत से भी कुछ लिया गया) संस्कृत के समृद्ध-साहित्य से जिसने जो चाहा उसे वही मिला। वीरकाल के पश्चात् जब भक्ति की परम्परा आई तब उस समय भक्त कवियों के सराहनीय प्रयत्न से काव्याङ्गों की अच्छी पूर्ति हुई, पश्चात् विद्वान् और सुपठित लोगों का ध्यान भी काव्यरचना की ओर जाने लगा। परन्तु भक्ति काव्य में जब शृङ्गार की पुष्टि होने लगी तब सामाजिकों की रुचि भी शृङ्गार-रस की ओर झुकी। रीतिकाल में इस प्रवृत्ति को और प्रगति मिली। नायक, नायिका भेद के उदाहरण लक्षणग्रंथकारों को प्रिय जान पड़े। प्रकृति भी शृङ्गार-रस की उद्दीपिका मानी जाने लगी। शृङ्गारी कवियों को राजाश्रय मिलने लगे। विलासिता का प्रभाव साहित्य पर पड़ने लगा। इसीलिए रीतिकालीन साहित्य में हम शृङ्गारी-रुचि को प्रचुरता पाते हैं;

संस्कृत के रीति-ग्रंथों के आधार पर विद्वानों ने हिन्दी में भी सूक्ष्म विवेचनात्मक रीतिग्रंथों को जन्म देना प्रारम्भ किया। इस समय कुछ अनुवाद भी किये गये। कुछ स्वतंत्र रचनाएँ भी हुई।

संस्कृत-रत्नाकर के रत्नों से हिन्दी-साहित्य को विभूषित किया जाने लगा। कविता इस समय साध्य बन गई थी और जीविका साधन। भक्तिकालीन परम-रति-भक्ति में से रतिभाव को ही विशेषरूप से अपनाना प्रारम्भ हुआ। भगवद्भक्ति के स्थान पर लौकिक रतिभाव की प्रबलता होने लगी। प्रेम और सौन्दर्य का चित्रण काव्याधार पर होने लगा। काव्य के लिए छन्द एवं अलंकार परमोपयोगी समझे जाने लगे। दोहा, कवित्त, सवैया, छप्पय आदि छन्द प्रसिद्ध और प्रिय होने लगे। तीन प्रकार की शैलियों का अवलम्बन लेकर कवियों ने अपने ग्रंथ बनाने प्रारम्भ किये।

(१) काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण की शैली पर (२) तिलकशृङ्गार के ढंग पर केवल शृंगार वर्णन और नायिका-भेद वर्णन। (३) चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के ढंग पर एक ही पद्य में उदाहरण और लक्षण का समावेश करना। कवियों ने अपने ही बनाये उदाहरण प्रस्तुत किये। आचार्य और कवि दोनों एक ही व्यक्ति होना चाहता था।

युग

सेनापति ऐसे युग में हुए जब कि भक्तिभावना और साहित्यिक चेतना दोनों ही अपने-अपने स्थान पर प्रधानरूप से महत्त्वपूर्ण होकर एकसाथ चल रही थीं। हिन्दी काव्य साहित्य में इन दोनों प्रकार की भावनाओं की रचनाओं की वृद्धि होती जा रही थी। दूसरे शब्दों में सेनापति का युग भक्तिकाव्य-प्रवाह और रीतिकाव्य प्रवाह का संधियुग था। भक्तिकाव्य में रीतिप्रवाह की प्रवृत्तियां आ-चली थीं, और रीतिसाहित्य में भक्ति के लिए अभी स्थान शेष था। ऐसे युग में, ऐसे वातावरण में उत्पन्न होनेवाले और साहित्य-शिक्षा पानेवाले सेनापति में दोनों प्रवाहों की प्रवृत्तियों का पाया जाना सहज स्वाभाविक है। उनके एक ही ग्रंथ के दो नाम रामरसायन अथवा कवित्तरत्नाकर इस दुहरे प्रभाव के सूचक हैं। लेकिन इनकी रचना के अध्ययन से स्पष्ट विदित हो जाता है कि सेनापति भक्त से बढ़कर कवि हैं। इनकी कविता भक्ति की तीव्रभावना के कारण नहीं अपितु साहित्यिकगुणों के जागरूक सचेष्ट समावेश के कारण चमत्कृत है। इस दृष्टि से सेनापति भक्तिकाव्यप्रवाह के नही वरन् रीतिकाव्यप्रवाह के प्रमुख रूप से ठहरते हैं।

सेनापति के कवित्तरत्नाकर की पहली तीन तरंगे रीति-प्रवाह-सम्पन्न बुद्धि की द्योतक हैं। पहली तरंग में सेनापति ने श्लेष अलंकार का वर्णन करके अपनी कुशाग्र-बुद्धि का, काव्य-कला-निर्माण का तथा भाषाधिकारिता का पुष्ट-प्रमाण दिया है। दूसरी

तरंग में शृंगार-सम्बन्धी विविध मधुर-भावों के सुन्दर-चित्र अंकित किये गये हैं। तीसरी तरंग में ऋतु वर्णन है। शृङ्गार-वर्णन और षड्ऋतु-वर्णन साहित्य, शास्त्रीय ढंग का है। भक्ति में शास्त्रीय-प्रणाली की मन्दता है कवित्तरत्नाकर की ये तीनों तरंगे इस बात को निश्चित कर देती हैं कि सेनापति रीति-परम्परा के शृङ्गारी कवि है, किन्तु ऐसे कवि हैं जिनमें परिश्रम के साथ सहृदयता और अध्ययन के साथ खुली आखों का सम्मिलन है।

कवित्तरत्नाकर की चौथी तथा पांचवीं तरंगों में रामकथा के कुछ अंशों का वर्णन किया गया है। कृष्णचरित तथा गंगामहिमा, शिवभक्ति आदि के भी कवित्त है, ये भक्ति-प्रवाह के सूचक हैं; किन्तु कवित्तरत्नाकर में इन्हें साहित्यिक-प्रवाह की प्रमुख तीन तरंगों के बाद ही स्थान मिला है, यह विधान यही बतलाता है कि सेनापति कवि पहिले और भक्त बाद को थे। यह रीति-परम्परा का ही प्रभाव है।

ध्वनिसंप्रदाय

रीतिकाल में माने जाने पर भी सेनापति ध्वनिसंप्रदाय से विशेष प्रभावित जान पड़ते हैं। सेनापति का काव्यकल्पद्रुम नामक ग्रंथ भी है जो अनुपलब्ध है, परन्तु अनुमान ऐसा होता है कि वह काव्यप्रकाश या साहित्यदर्पण की शैली पर लिखा गया होगा। जैसा कि उसका नाम है। ध्वनिसंप्रदाय को ये मानते थे। इसीलिए सेनापति ने अपने काव्य के प्रति कहा है कि "सरस अनूप रस रूप यामें धुनि है" यदि इन पर ध्वनि-सम्प्रदाय का प्रभाव न होता तो ये ऐसी बात ही न कहते। इनके समय में प्रायः सभी कवि आलंकारिक योजना में पड़े हुए थे। जिसमें स्वयं सेनापति भी है, किन्तु ध्वन्यालोक इत्यादि, आचार्य आनन्दवर्धन के ग्रंथों का अध्ययन इन्होंने किया होगा, जिसके आधार पर इन्होंने वस्तु और अलंकार ध्वनि को अपने काव्य में सुन्दर ढंग से रखा।

सेनापति को भली भांति विदित था कि काव्य की आत्मा ध्वनि है। अलंकार उसके चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना के हेतु हैं। इसीलिए उन्होंने अलंकारों द्वारा ही व्यङ्ग्यार्थों की अभिव्यक्ति रखी है।

सेनापति ने स्वयं ध्वनित किया है कि—

"तुकन सहित भले फल कौं धरत, सूधे
दूर कौं चलत जे हैं धीर जिय धारी के।"

यद्यपि यह कविता तुक बन्दी सी है पर इसमें सीधे सीधे देखने और मनन करने से भी भला-सा फल (ध्वन्यर्थ) मिल सकता है। किन्तु जो धैर्य धारणकर गम्भीरता तक पहुंच सकते हैं, उनके मन को तो यह कविता प्रकाशपूर्ण कर देती है। इस परिस्थिति को और स्पष्ट करने के लिए सेनापति को कहना पड़ा कि—"लागत विविध पक्ष" और—"सोई सीस धुने जाके उर में चुभत हैं" स्थूलार्थ तो हृदय के मार्मिकस्थल को गुद-गुदा

ही नहीं सकता। यह कार्य तो व्यङ्ग्यार्थ का ही है। "धरती बहुत भांति अरथ समाज कौ" से भी तात्पर्य अभिधेय लाक्षणिक और व्यङ्ग्यार्थ से ही हो सकता है।

मूढ़न को अगम, सुगम एक ताकौ—
जाकी तीछ्न अमल विधि बुद्धि है अथाह की।

ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने भी कहा है कि—"वेद्यते स हि व्यङ्ग्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्" और "सुहृदय हृदयैक वेद्यः सोऽर्थ झटिति नावभासते।" काव्य-भावना-परिपक्व-बुद्धिवालों को ही काव्यार्थ की गम्भीरता ज्ञात होती है। फिर "संख्या करि लीजै अलंकार है अधिक यामें" भी कहा गया है, जिसका मूलतात्पर्य यह है कि रीतिकालीन कवियों की भांति अलंकार चमत्कार भी ध्वनि के साथ पूर्ण है। ध्वनि ही ध्वनि नहीं, अलंकार का बाहुल्य भी है। प्रथम तरंग में अभिधेयार्थ की प्रचुरता, द्वितीय तरंग में लक्ष्यार्थ की और तृतीय तरंग में व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता विदित होती है। रीति और भक्ति-परम्परा के सम्मिलन का प्रभाव इन पर पूर्ण है।

इस भांति हम कह सके हैं कि हिन्दी काव्य में जो परम्परा उस समय थी उसको सेनापति ने अपनाया। परन्तु इन्होंने लकीर नहीं पीटी, स्वतंत्र हृदय और बुद्धि से काम लिया है।

सेनापति यद्यपि प्रौढावस्था में विरक्तभक्त हो गये थे ऐसा अनुमान होता है, तथापि उन्हें भक्तियुग का नहीं माना जा सकता। अपने समय के प्रचलित प्रमुख विषयों पर इन्होंने भी लिखा—यथा नायक, नायिका वर्णन, नख-शिख भेद वर्णन, शृङ्गार के संयोग और वियोग का वर्णन—प्रवास हेतुक विप्रलम्भ, ऋतुवर्णन और प्रेमालम्बन, इन्हीं विषयों को लेकर सेनापति ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया।

सेनापति के काव्य में रीतियुग के सभी लक्षण विद्यमान हैं। जिसका आभास सेनापति का ही कथन देता है।

ज्ञान के विधान, छन्द कोष सावधान,
जाकी रसिक सुजान सब करत हैं गाहकी।
"राखति न दोषै पोषै पिंगल के लच्छन कौं
बुध कवि के जो उपकंठ ही बसति है"
एवं— बानी सों सहित सुबरन मुंह रहैं जहां
धरति बहुत भांति अरथ समाज कौं।

"संख्या करि लीजौ अलंकार हैं अधिक यामें"—इत्यादि, इन बातों के आधार से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि सेनापति का युग रीतियुग था और इस युग की परम्परा के नाते इन्हें रीतिकालीन कवियों की श्रेणी में रखना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

भट्ट नागेश दीक्षित और कवि सेनापति

संसार में जिन लोगों ने कुछ कार्य किया है तथा जो अपनी प्रतिभा का परिचय दे गए हैं, उन दिव्य-विभूतियों का इतिवृत्त और तत्सम्बन्धी बातों का ज्ञान वस्तुस्थिति में नहीं हो सका। साहित्य-मनीषियों में संस्कृत साहित्य के रत्न कवि-कुल तिलक कालिदास के जन्म सम्बन्ध में अभी तक यह निश्चय नहीं हो सका है कि वे कहाँ के थे और कब हुए थे। भास, भर्तृमेण्ठ, भारवि, माघ, चक्रनितम्बा इत्यादि का भी पूर्ण परिचय प्राप्त नहीं हो सका। किंवदन्तियों के आधार पर तथा अन्तःसाक्ष्य के अनुमान पर उनके विषय में जो कुछ भी ज्ञात हो सका है उसके साथ भी सम्भावित धारणा का निराकरण नहीं है। फिर भी उसी पर सन्तोष करना पड़ता है।

नागेश भट्ट के सम्बन्ध में इतनी बातें हमें ज्ञात हैं। भट्ट नागेश दीक्षित कालोपनाम देश के महाराष्ट्र कुलोत्पन्न शिव भट्ट एवं सती देवी के पुत्र थे। ये प्रसिद्ध भट्टोजी दीक्षित के पौत्र थे। इनके गुरु का नाम हरि दीक्षित था। ये पण्डितराज जगन्नाथ से द्वितीय पुरुष माने जाते हैं। पण्डितराज का समय लगभग (१५९३ सन् से) १६५० सं० से लगभग १७३८ (१६८१ ई०) तक के माना जाता है। इस अनुपात से नागेश जी का जन्म-समय लगभग (१६१३ ई०) सं० १६७० माना जाता है।

नागेश जी के क्षेत्रसन्यास ग्रहण का समय प्रौढ़ावस्था में आता है। इसका प्रमाण है कि १६६६ सन् में जयपुर के राजा जयसिंह का जन्म समय माना जाता है। १७०६ सन् में ये राजसिंहासनाधिरूढ़ हुए। १७१४ सन् में उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया। उस समय नागेश जी के लिए भी निमन्त्रण-पत्र उन्होंने भेजा, जिसके उत्तर में नागेश जी ने लिखा—"अहं क्षेत्र-सन्यासं गृहीत्वा काश्यां स्थितोऽस्मि अतस्तां परित्यज्यान्यत्र गन्तुं न शक्नोमि।" मैं क्षेत्र-सन्यास ग्रहण करके काशी में रह रहा हूँ, अतः उसको त्यागकर दूसरे स्थान पर जाने में असमर्थ हूँ। क्षेत्र-सन्यास के समय नागेशजी की ४४ वर्ष की अवस्था आती है। और उनके पत्रोत्तर से यह सिद्ध होता है कि वे अन्तिमावस्था तक काशी में ही रहे।

इनके पूर्वज शृंगवेरपुर (सिंघौर) में रहते थे। इनके विषय में लिखा है कि—

"शृंगवेरपुराधीश रामतो लब्धजीविकः
वैय्याकरण नागेशः स्फोटायन ऋषेर्मतम्
परिस्कृत्योक्तवांस्तेन प्रीयतामुमयाशिवः।" २

शृंगवेरपुर गंगातट पर है। इस विषय में कोलबुक पण्डित ने अपनी विविध निबन्ध नामक पुस्तक (द्वि० भा० १३ प० टि०) में लिखा है—

"शृंगवेरपुरे गंगातटोपरि सिंघोर नाम्नाख्यातम् प्रयागादुपरिभागे वर्तते।" इसी सिंघोर के रामराजा के आश्रय में रहकर नागेशजी ने अनेक ग्रंथों का निर्माण किया—

"हरि दीक्षित शिष्योऽयं नागेश भट्टः स्वशिष्याच्छृंगवेरपुराधीश विसेनवंश समुद्भूत राम नृपाल्लब्धजीविको बहून् ग्रंथान् प्रणीतवान्।"

शृंगवेरपुर का राजा रामदत्तचन्द्र हिम्मति वर्मा का पुत्र था। यह विद्वानों का आदर करता था और बड़ा दानी था। इसको "अर्थिनांकल्पवृक्षः" तथा "विद्वज्जन-सभासदः" कहा जाता था। यह गौ ब्राह्मणों का रक्षक और हितचिन्तक था। नागेश जी ने इसके लिए आध्यात्मरामायण और वाल्मीकिरामायण की टीकायें भी कीं। ये प्रसिद्ध टीकाकार हुए हैं। शब्दरत्न नामक पुस्तक इन्होंने अपने गुरु के नाम से लिखी। ये ध्वनिसम्प्रदायवादी थे और स्फोटायन आचार्य के अनुयायी थे। स्वगुरु हरि दीक्षित से महाभाष्य और रामनाम (परशुराम) पण्डित से इन्होंने न्यायतन्त्र का अध्ययन किया था।

गर्वोक्तियों के विषय में हम कह सकते है कि ये बड़े गर्विष्ठ थे। इनकी रचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये स्वाभिमानी प्रकृति के थे, तथा इन्हें अपने अध्ययन पर पूर्ण विश्वास था। तर्क के सम्बन्ध में इन्होंने कहा है कि—"दृढस्तर्कोऽस्य नाभ्यास इति चित्य न पण्डितैः, दृषदोऽपि हि संतीर्णाः पयोधौ रामयोगतः।" अर्थात् कोई पण्डित यह न समझे कि मेरा तर्क में अभ्यास नहीं है। मैं उस राम का भक्त हूँ जिसकी कृपा से समुद्र में पत्थर भी पार हो गये। पण्डितराज जगन्नाथ की गर्वोक्तियों का प्रभाव इन पर लक्षित होता है। ये काव्य में दूसरे की बातों को अपनाना पण्डितराज की भांति अच्छा नहीं मानते थे।

नागेश जी के समय की स्थिति

संस्कृत साहित्य के इतिहास का वह अद्भुत समय था जिस समय नागेश जी की प्रतिभा का विकास हो रहा था, उस समय वाद-विवाद की प्रणाली पूर्ण वेगवती हो रही थी। केवल व्याकरण और न्याय के विषय में ही नहीं, संस्कृत साहित्य के अन्य विषयों में भी यह प्रणाली प्रचलित हो चुकी थी। कूट प्रयोगों का भी प्राचुर्य हो चला था। वह पण्डित ही नहीं समझा जाता था जो कूट प्रयोग नहीं करता था। इस विवाद-शैली का अन्त भी नागेश जी के समय में ही होने लगा था। भाषालालित्य को प्रधानता दी जाने लगी थी। लक्षणग्रन्थों का आश्रय लेकर लोग कवि और आचार्य स्वयं बनने लगे थे। नागेश जी ने भी कई स्वतन्त्र रचनायें कीं और अनेक टीकायें भी कीं। इनके समय में हिन्दी व्रजभाषा में संस्कृत साहित्य के सुन्दर अंशों को लेकर महाकवि तुलसीदास जी, सूरदास जी, केशव, भूषण, बिहारी इत्यादि अपने ग्रन्थों का निर्माण कर रहे थे। उस समय यह प्रशंसावाद भी अत्यधिक प्रचलित हो गया था कि—

"अविदितगुणापि सत्कवि भणिति कर्णेषु वमति मधु-धाराम्,
अनधिगत परिमलापि हरति दृशं मालती-माला।"

मधुर कोमलकान्त पदावली भाषा की प्रधानता हो चली थी। यद्यपि इसको उस समय काव्यात्मा अंगीकार कर लिया गया था, फिर भी अलंकारवादी सम्प्रदाय में अलंकारों

का प्रयोग मन्द नहीं हुआ था। अनलंकृता भाषा विधवा समझी जाती थी। ऐसी स्थिति में नागेश जी ने अपनी प्रतिभा का प्रसार किया।

सेनापति

सेनापति के सम्बन्ध में यह पूर्ण निश्चय नहीं हो सका कि इनका वास्तविक नाम क्या था? ये कहाँ के थे और इनका जन्म संवत् क्या है? पर इतना ज्ञात है कि इनके पिता का नाम गंगाधर या गंगाधार था। गंगातीर पर इनका ग्राम था। (जिसे कोई अनूपशहर कहते हैं) ये दीक्षित थे। इनके गुरु का नाम हीरामणि दीक्षित था। इनका जन्म सं० १६७० वि० के आस-पास तक ठहरता है। (यद्यपि लोगों ने १६४६ के आस-पास इनका जन्म माना है। देखो—हि० सा० इ० शुक्ल जी) इन्होंने प्रौढ़ावस्था में क्षेत्र सन्यास ले लिया था। शिवसिंहसरोज में लिखा है कि "इन महाराज ने वृन्दावन में क्षेत्रसन्यास लेकर सारी वयस वहीं व्यतीत की।" १७०६ वि० में इन्होंने अपनी कवित्तरत्नाकर नाम की पुस्तक समाप्त की। उस समय इनकी अवस्था ३६ वर्ष होती है। अनेक अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर यह भी माना गया है कि इनको किसी राजा का आश्रय मिला था एवं उसी राजा को इन्होंने अपने कवित्त समर्पित किए। "सौपी·····वित्त की सी थाती में कवित्तन की राज कौ।" गर्वोक्तियों के विषय में हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि ये भी पण्डित-राज जैसी गर्विष्ठ प्रकृति के थे, उनका इन पर प्रभाव लक्षित होता है। आत्मसम्मान सेनापति की प्रकृति का प्रधान गुण था।

"आपने करम करि हौं ही निभहौं गौ तौब
हौं ही करतार करतार तुम काहे कै।"

तथा—"आदर के भूखे रूखे रुख सौं अधिक रूखे
दूखे दुरजन सौं न डारत बचन हौं।"

अपनी कविता के विषय में इनका कथन है कि—"मैंने अपनी कविता को भली भाति सजाकर रक्खा है।" इसकी समता कोई नहीं कर सकता है। मूर्खों को मेरी कविता कठिन जान पड़ती है। जिनकी पवित्र, तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धि है उनके लिए यह सुगम है। रसिक सुजान उसके ग्राहक हैं। इन बातों से यही ज्ञात होता है कि सेनापति दूसरों की कही हुई बात का पिष्टपेषण नहीं करते थे। कवि को अपने अध्ययन पर पूर्ण विश्वास था।

सेनापति के समय की स्थिति

सेनापति के समय में व्रजभाषा उत्कर्ष को प्राप्त हो चुकी थी, और साहित्यिक भाषा का स्थान पा चुकी थी। संस्कृत के विद्वान् रीतिग्रंथों का आधार लेकर सूक्ष्म विवेचना पूर्ण ग्रन्थों को हिन्दी में निर्मित करने लगे थे। अनुवाद एवं स्वतन्त्र रचनाओं का प्रारम्भ भी हो चुका था। इस समय कविता साध्य और जीविका साधन बन गई थी। काव्य-निर्माण के लिए छन्द और अलंकार परम्परा का महत्व माना ही जा रहा था, दोहा, कवित्त सवैया,

घनाक्षरी, छप्पय उस समय भी प्रिय छन्द थे। तीन प्रकार की शैलियों पर उस समय ग्रंथ रचे जा रहे थे। प्रथम काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण की शैली पर। द्वितीय तिलकशृंगार के ढंग पर केवल शृंगारवर्णन और नायिका भेद वर्णन। तृतीय चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के ढंग पर एक ही पद्य में लक्षण और उदाहरण देना। इस समय अपनी ही बनाई रचना उदाहरण में दी जाने लगी थी, एक ही व्यक्ति कवि तथा आचार्य दोनों होना चाहता था, कूट प्रयोगों की शैली भी प्रचलित थी।

* सेनापति ने अपने समय की सभी प्रचलित शैलियों को अपनाया। ये ध्वनिसंप्रदायवादी थे। इनका भाषा और अलंकारों पर असामान्याधिकार था। ध्वनि और अलंकार के ये पण्डित ही थे। इनके समय में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिये ललित भावक्षम पदरचना को विशेष महत्व मिल चुका था। श्रोत-सुखावहा भाषा का प्रयोग करना एवं उसको सालंकृत बनाना उस समय के कवियों का प्रमुख कार्य था। संस्कृत के विद्वान् भी हिन्दी व्रजभाषा की ओर झुक रहे थे।

सेनापति ने दो ग्रंथ रचे काव्य-कल्पद्रुम और कवित्त-रत्नाकर, काव्य-कल्पद्रुम नामक पुस्तक के विषय में अभी तक कुछ ज्ञात नहीं हो सका। कवित्त-रत्नाकर, के अध्ययन और मनन के आधार पर यह माना जाता है कि ये संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। ये राम भक्त थे, राजाश्रय में रहते थे और रीति-कालीन परम्परा के थे।

समानता

नागेश जी और सेनापति के विषय की अनेक बातों को देखने से पता चलता है कि इन में बहुत साम्य है।

नागेश जी दीक्षित थे। सेनापति भी दीक्षित थे। नागेश जी के पिता का नाम शिव था। सेनापति के पिता का नाम गंगाधर या गंगाधार था। इनके गुरु हरि दीक्षित थे, तो उनके गुरु भी हीरामणि दीक्षित थे। इनका ग्राम गंगातट पर था, उनका ग्राम भी गंगातट पर था। नागेश जी को रामदत्तचन्द्र नृपति का राजाश्रय मिला था। सेनापति भी राजा के आश्रय में रहते थे। वे ध्वनि सम्प्रदायवादी थे, ये भी ध्वनिसम्प्रदायवादी थे। संस्कृत के दोनों विद्वान् थे। क्षेत्रसन्यास भी दोनों ने ग्रहण किया। राम-भक्त भी दोनों थे। अलंकारप्रयोगवादी और कूटप्रयोगवादी भी दोनों थे। दोनों सम-सामयिक भी हैं। अध्ययन साम्य और गर्वोक्ति साम्य भी दोनों में है। रामायण वर्णन भी दोनों में समान है। रीति-कालीन-परम्परा के भी दोनों ही हैं। ग्रंथनिमर्ण करके किसी को समर्पित करने की बात भी दोनों की सम है। अन्य भी कई ऐसी बातें और आधार हैं जिनसे दोनों समानता में आते हैं।

---

* इस सम्बन्ध की विशेष चर्चा हम अन्यत्र करेंगे।

ऐक्य संभावना

नागेशजी और सेनापति के पिता के नाम से यह अनुमान होता है कि सम्भवतः ये एक ही व्यक्ति के दो नाम है। कारण कि गंगाधर या गगाधार भी शिव के ही पर्यायवाची शब्द हैं। (श्री उमाशंकर जी ने भी पहली तरंग के चतुर्थ छन्द के शब्दार्थ में गंगाधार = शिव यही अर्थ लिखा है।) हो सकता है कि उन्हें प्रसिद्ध नाम से लोग गंगाधर कहते हों। गुरु का नाम हरि या हीरा दोनों एक ही हो सकते हैं।

जन्मभूमि और आश्रयसाम्य भी दोनों की एकता की ओर संकेत करता है। सेनापति ने लिखा है—"गंगातीर बसति अनूप जिन पाई है" इस के आधार पर यह कल्पना की जाती है कि किसी व्यक्ति ने इनके पिता को अनूपशहर दिया था जो बुलन्दशहर का एक प्रसिद्ध कस्बा है। किन्तु यह आधार अपुष्ट प्रतीत होता है। क्योंकि अनूप शब्द का प्रयोग सेनापति की भाषा में अनेक स्थलों पर सर्वसुन्दर, अनुपम और सर्वश्रेष्ठ के लिए हुआ है। यथा—

'सरस अनूप रस रूप यामें, धुनि है' 'नूतन अनूप भिहि रूप की निकाई है' 'रूप-माधुरी अनूप रभाहू निदति है।' "जर बलै चलै रति आगरी अनूप बानी।" अतः अनूप से अनूप शहर अर्थ लेना भ्रांति-मूलक है। कवित्तरत्नाकर के सम्पादक श्री उमाशंकर जी शुक्ल भी इसी बात को मानते हैं। फिर भी इस पंक्ति से सेनापति के निवास का कुछ आभास अवश्य मिलता है। गंगातीर बसति शृंगवेरपुर हो सकती है। जो आजकल सिंघौर नाम से ख्यात है। सेनापति ने अपनी रचना किसी राजा को समर्पित की और उसे सुरक्षित रखने के लिए भी कहा—

श्लेषार्थों में कई स्थलों पर राम राजा की ओर संकेत है। "और न भरोसौ जिस परत खरोसौ, ताहि राम पदपंकज कौ पूरन भरोसौ है।"

इसमें श्री रामचन्द्र जी के पद-पंकज के विश्वास के साथ-साथ अपने आश्रयदाता जीविका देनेवाले रामराजा के प्रति भी दृढ़ विश्वास की भावना जान पड़ती है। एक और भी ऐसा छन्द है जो हिम्मति वर्मा के पुत्र रामदत्तचन्द्र की ओर संकेत करता है :—

सूर बली बीर जसुमति कौ उज्यारौ लाल,
चित्त कौ करत चैन बैनहिं सुनाइ कै।
सेनापति सदा सुरमनी कौ बसीकरन,
पूरन कर्‌यौ है काम सबकौ सहाइ कै।
नगन सघन धरैं गाइन को सुख करै,
ऐसौ ते अचल छत्र धार्‌यौ है उचाइ कै।

नीके निज व्रज गिरिधर जिमि महाराज,
राख्यौ है मुसल-मान धारतैं बचाइ कै॥

कृष्ण पक्ष में–(हे) शूर (हे) वीर बलवान यशोदा के हृदय को प्रकाश देनेवाले (तू) वै नहिं, वंशी को अथवा मधुर वचनों को सुनाकर (सब के) चित्त को आनन्द देता है। सेनापति कहते हैं कि (तू) सुरमनी इन्द्र को भी वशीभूत करनेवाला है। तुमने अनेक पर्वतों को नहीं (नगन सघन धरै) किंतु एक ही अचल (गोवर्धन) को छत्र की भाँति उठा करके (व्रज की) गायों को सुख पहुँचाया (हे) गिरिधर तुमने भलीभांति (नीके) अपने व्रज को (मुसल-मान धार) मूसला प्रमाण वृष्टि से (मूसलाधार वृष्टि से) बचाकर सबकी सहायता करके सबकी मनस्कामना को पूर्ण किया।

महाराजा पक्ष--(हे) शूर (हे) वीर (हे) बली अथवा शूर बलीवीर जसुमति शूर बली वीर से उत्पन्न (हिम्मति वर्मा के पुत्र) होनेवाले (तू) सुमति का है, सुमति के कारण ही तेरा यश प्रकाशित हो रहा है। (तू) अपने मधुर वचनों को सुनाकर चित्त को आनन्दित करता है। सेनापति कहते हैं कि तू सुन्दर रमणियों को वश में करनेवाला है। (तूने) सबकी (विद्वानों तथा आश्रितों की) सहायता करके उनकी मनस्कामना पूर्ण की है (तू) अनेक रत्नों को धारण करता है। गायों को सुख पहुंचाता है। (गोरक्षक है) (तूने) अचल छत्र धारणकर रक्खा है। अर्थात् अपने राज्य को उच्च-श्रेणी का बना डाला है (हे) महाराज कृष्ण के समान आपने भी भलीभांति व्रज (गौ-गोष्ठ) गो-समुदाय को मुसलमानों की तलवार की धार से बचा रखा है।

गंगा-तट पर निवास करनेवाला यह महाराजा शृंगवेरपुर के हिम्मति वर्मा का पुत्र राजा रामदत्तचन्द्र ही हो सकता है। यह राजा विद्वानों का प्रेमी और आर्थियों की आशा को पूर्ण करनेवाला था। रामभक्त था तथा गौ ब्राह्मण प्रतिपालक भी था। इसलिए राम-रसायन इसी राजा को दिया गया हो तो आश्चर्य की बात नहीं। रामरसायन में राम कथा से सम्बन्धित अंश है ही। रामभक्ति की ओर विशेष झुकाव का संकेत भी सेनापति ने दिया है :—

"शंकर ते राम नाम पढ़िबे को मन है"
तथा— सेनापति ईस, बीसेबिस, मोहिं महाराजा!
तेरोई भरोसौ दसरथ चक्रवर्ति को"

१—सुनु महाराज चोरी होति चार-चरन की
ताते सेनापति कहैं तजि करि ब्याज कौ।
लीजियो बचाइ ज्यों चुरावै नाहिं कोई-सौंपी,
वित्त की सी थाती में कवित्तन की रज कौं॥

और इससे भी बड़ी बात यह है कि अपने ग्रंथ (कवित्त-रत्नाकर) का नाम राम-रसायन रखा ! इस नाम के श्लेषार्थी-रूप में राम (चन्द्र) और राजारामदत्त (चन्द्र) दोनों का समावेश अपनी कविता की द्वयर्थी प्रकृति के अनुकूल सेनापति ने कर दिया। रामदत्तचन्द्र के आश्रय में भट्ट नागेश जो दीक्षित ने वाल्मीकि-रामायण की टीका की सेनापति ने भी रामरसायन में वाल्मीकि का स्मरण किया और कहा कि कुछ अंशों को लेकर ही मैं राम-रसायन लिख रहा हूँ। अतः राजा की बात भी घटित हो जाती है।

उस समय उपाधियों का भी प्रचलन था, चित्रकूट के राजा रुद्रदेव ने (भूषण को) भूषण की उपाधि दी ही थी। यदि सेनापति की उपाधि भी नागेश जी को राम-राजा द्वारा दी गई हो तो सम्भव हो सकता है।

नागेश शब्द श्रेष्ठत्त्व का तथा सेनापतित्त्व का द्योतक भी है और सेनापति शब्द से भी वह अर्थ निकलता है। कवि सेनापति का रूप, कवि-सेनापति (कवियों की सेना का पति) होना असम्भव नहीं। अतः सम्भव है कि रामराजा के आश्रय में उनको उपाधि मिली हो।

(कुछ विद्वानों ने 'सूरबली वीर' इस छन्द का अर्थ राजा सूर्यबली लगाया है और उसे मुसलमानों का सहायक माना है। यह अर्थ असंगत-सा विदित होता है क्योंकि 'तैं', शब्द यहाँ पर कर्ता-कारक का द्योतक नहीं हो सकता)

क्षेत्रसन्यास का जहाँ तक प्रश्न है हम पहले ही कह चुके हैं कि नागेश जी और सेनापति दोनों के क्षेत्रसन्यास का समय एक ही पड़ता है। और बनारस में ही उन्होंने सन्यास-जीवन बिताया। नागेश जी का पत्र बनारस का उल्लेख करता ही है लेकिन राम-रसायन में भी ऐसा संकेत मिलता है कि सेनापति ने सन्यास-जीवन काशी में बिताया— यद्यपि सेनापति ने लिखा है कि—

"सेनापति चाहत है सकल जनम भरि
बृन्दाबन सीमा तैं न बाहर निकसिबौ।"

शिवसिंह सेंगर की यह बात कि ये बृन्दावन में ही अन्त तक रहे यह उक्त पंक्तियों का ही आधार है, परन्तु क्षेत्रसन्यास की बनारस की बात भी राम-रसायन से पुष्ट होती है:—

"मिटत हैं काम क्रोध, ऐसे उपजत बोध,
सेनापति कियो सोध कह्यौ निगमन है,
वारानसी जाय मनिकर्निका अन्हाइ मेरौ,
संकर ते रामनाम पढ़िबे को मन है।"

कृष्ण-भक्ति की अपेक्षा राम-भक्ति भी इनकी प्रबल थी ही। शिव के ऊपर ये मुग्ध थे ही। जैसा कि राम-रसायन से स्पष्ट है।

गर्वोक्तियों का साम्य भी दोनों में समान है, यह हम बता चुके हैं, अन्य साम्य भी दोनों में है ही।

हिन्दी की ओर झुकाव

हम यह बता चुके हैं कि जिस समय नागेश जी की प्रतिभा का विकास हो रहा था, उस समय व्रज-भाषा उत्कर्ष पर थी। वह साहित्योपयोगी जन-प्रिय-भाषा हो गई थी, संस्कृत के विद्वान् उस ओर झुक ही रहे थे। केशवदास और उनके बड़े भाई बलदेव मिश्र भी उस समय हिन्दी में रचना करने लगे थे। इसलिए नागेश जी का झुकाव भी हिन्दी की ओर हुआ होगा।

यह भी अनुमान होता है कि हिन्दी के किसी बड़े विद्वान् कवि की प्रेरणा से इन्होंने हिन्दी में रचना की।

"तुम ही बताई कछू कीनी कविताई ता मैं,
होई जोगताई दुचिताई के सुभाइ कै,
बुद्धि के बिनाइकै, गुसाईं, कवि नाइकै. सु
लीजियो बनाइकै कहत सिर नाइकै।"

हो सकता है कि ये गोस्वामी तुलसीदास जी से अधिक प्रभावित रहे हों, किंवा ये कोई ऐसे ख्यातनामा कवि हों जिनको राज-सभा का भूषण कहा गया है, और कवि-नायक भी कहा गया है। इन्हें कविता संशोधन के लिए भी दी गई। हो सकता है कि ये कवि भूषण ही, भूषण हो रहे हों। हिन्दी की ओर झुकने के विषय में यह भी सेनापति ने कहा है कि—

"सेनापति जानत जो अच्छर न औसौ है।"

तथा—"विद्या परिहरि रस है।"

अर्थात् मैंने इस भेद-भाव को त्याग दिया (हिन्दी संस्कृत के) केवल इस बात पर ध्यान दिया कि विद्या ग्रहण करनी है। यद्यपि मेरे लिए यह (हिन्दी का) मार्ग नवीन है किन्तु जब मैं इस ओर प्रवृत्त हुआ तो इस विषय में भी मैंने शारदा का ज्ञान इतनी सुलभ-रीति से प्राप्त कर लिया मानों वह कहीं पर धरा हुआ था और उठाने भर की देरी थी। अस्तु।

तब क्या नागेश दीक्षित और सेनापति एक ही थे? अनुमान तो ऐसा ही होता है कि ये दोनों व्यक्ति एक ही होंगे। अपना पूर्ण नाम नागेश जी ने इसलिए भी न दिया होगा कि उस समय उपनाम देने की परिपाटी ही चल पड़ी थी।

अभिव्यंजना रसतरंगानुदान (रस)

सेनापति की गर्वीली और उद्दंड प्रकृति की चर्चा लोग प्रायः करते हैं। किंतु जिस प्रकृति को गर्व का द्योतक माना जाता है वह सकारण हो सकती है। परिस्थितियों के घात-प्रतिघात में भी उसे विकसित तथा प्रस्फुटित होने का अवसर मिल सकता है।

सेनापति पर जब हम विचार करने लगते हैं तब हमारे सामने सेनापति के सम-सामयिक एक विद्वान् कवि की मूर्ति आ उपस्थित होती है। वह मूर्ति है पण्डितराज जगन्नाथ की। पण्डितराज एक ऐसे व्यक्ति थे जिनका स्वाभिमान तत्कालीन पण्डितों के दम्भ और तिरस्कार के कारण जागरूक हुआ था। इन्होंने अपने प्रति-पक्षियों को अपने पाण्डित्य और प्रतिभा से परास्त किया। उस समय पण्डितराज ने कहा :—

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपम्,
काव्यं मयात्र निहितम् न परस्य किंचित्।
किं सेव्यते सुमनसा मनसापि गंधः,
कस्तूरिकाजननशक्ति भृतामृगेण॥ (रस गंगाधर)

मैंने अपने काव्य में उदाहरण किसी अन्य ग्रंथ से लेकर नहीं दिये। मैंने स्वयं नूतन उदाहरणों का निर्माण किया है। कस्तूरी उत्पन्न करनेवाला मृग क्या मनसे भी अन्य फूलों की वास ग्रहण करने को सोचेगा ?

ऐसी गर्वोक्तियों का कवियों में अभाव नहीं, भास, बाण और दण्डी से ही यह पद्धति चली आ रही है। सेनापति पर भी पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव पूर्ण रहा है। बहुत-सी बातों का तो सेनापति ने अन्धानुकरण भी किया किंतु अपनी प्रतिभा के बल से उनपर अपने व्यक्तित्व की छाप लगा दी। सेनापति ने गर्व के साथ कहा है कि मेरे काव्य में ध्वनि है। "सरस रूप यामें धुनि है।"

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सेनापति के काव्य में रसाभिव्यंजना का परिपाक पूर्ण है और इस क्षेत्र में उनकी गर्वीली प्रकृति अपने काव्य का परिचय भी देती है। ये गरजते ही नहीं, बरसते भी हैं। यहाँ पर हम सेनापति के काव्य में रस-पुष्टि को दिखाने के पूर्व रस क्या है ? का भी थोड़ा आभास देना उचित समझते हैं, ताकि परिस्थिति पर पूर्ण प्रकाश पड़ सके। रसकी विविध व्याख्यायें आचार्यों ने एक स्थिर सिद्धान्त को लेकर की हैं। वाक्य की रसात्मकता को व्यक्त करने के लिए आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में लिखा है :—

विभावेनानुभावेन, व्यक्तः संचारिणा तथा—
रसतामेति इत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्॥

किन्तु इस वाक्य का मूल भी भरतमुनि का "विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्ति:" ही है। भरतमुनि ने कहा है कि विभाव, अनुभाव और संचारी या व्यभिचारी भावों के संगम, संयोग से रस-निष्पत्ति होती है।

विभाव—आलम्बन और उद्दीपन दो प्रकार का माना गया है। आलम्बन में काव्यगत नायिका और नायकादि आ जाते हैं। उद्दीपन में वस्तुस्थिति प्रकृति आदि आते हैं। जो उद्गत भाव को उद्दीप्त करते हैं। अनुभाव—शारीरिक चेष्टाएं आदि हैं। जो उद्गत भाव का अनुभाव कराती हैं। संचारी या व्यभिचारी वे क्षणिक स्मृति, शंका, मोह, मद, हर्ष, दैन्य, चिंता आदि भाव हैं जो जल बुद्बुदवत् क्षण में उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं; और सहायक होकर भाव का विकास करते हैं, इन तीनों के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। "यथा गुडादिभि: द्रव्यै: व्यंजनै: ओषधिभिश्च षड्रसा निवर्त्यन्ते एवं नाना भावोपहिता: स्थापितो भावा रसत्वमुपयान्ति।" जैसे गुड़ादि द्रव्यों व्यंजनों और औषधियों से छः रस (कटु, तिक्त, लवण, मधुर, कषाय और अम्ल।) उत्पन्न किये जाते हैं। ऐसे ही नाना भावों के द्वारा सहायता प्राप्त स्थायीभाव ही रस-दशा को प्राप्त होते हैं। इसी रस को ब्रह्मानन्द सहोदर और काव्यानन्द माना जाता है। काव्य में रसानुभूति का तात्पर्य रस चर्बणाजन्य आनन्द से है। रस सदैव व्यंजित होता है साधारणीकरण द्वारा अज्ञानावरण को भंगकर सत्वगुण का आविर्भाव होता है। इस दशा में रजोगुण और तमोगुण पराभूत होकर चित्त की वृत्तियों को प्रसाद में आने का अवसर देते हैं यही निरानन्द की दशा रसदशा कही जाती है। इस दशा में ही स्थायीभाव चित् प्रकाश से विशिष्ट होकर रस बन जाते हैं। पण्डितराज जगन्नाथजी का भी मत है कि-जैसे किसी आवरण से आच्छादित दीप पदार्थ प्रकाशन में असमर्थ रहता है, किन्तु अपने आप प्रकाशित होता रहता है, उसी प्रकार वासनारूप से स्थित हृदय की भावनायें हृदय में विद्यमान होने पर भी जबतक विभावादि का उचित संयोग नही पातीं तबतक वे रस रूप में परिणत नहीं हो सकतीं। अतः उन्हें अभिव्यंजित करना पड़ता है।

रस नौ हैं। शृंगार, करुण, शान्त, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक और वीभत्स। हिन्दी में अब वात्सल्य भी रस माना जाने लगा है। इनके स्थायीभाव भी होते हैं। रति, शोक, निर्वेद, क्रोध, उत्साह, विस्मय, हास्य, भय, एवं जुगुप्सा ये क्रम से इनके स्थायीभाव हैं।

रति—स्त्री पुरुष के अन्योन्यालम्बन से जो चित्त की रागात्मक वृत्ति जागरूक होती है उसे रति कहते हैं। (गुरु, मुनि, पत्नी विषयक रति एवं अनुनय-निष्ठ रति रस नहीं, रसाभाव के अन्तर्गत हैं।)

शोक—पुत्रादि के वियोग अथवा मरणादि से उत्पन्न चित्त की विकलता तथा विक्षुब्धता की वृत्ति को शोक कहते हैं।

निर्वेद—नित्य-अनित्य के विचार से जो विषय-विरक्ति उत्पन्न होती है, उसे निर्वेद कहते हैं ।

क्रोध—गुरु-वध बन्धु-वध से उत्पन्न जो परम अपराध है—उससे उत्पन्न हृदय की ज्वलन को क्रोध कहते हैं ।

उत्साह—दूसरे के पराक्रम या दान इत्यादि को देखकर हृदय में जो उल्लासमयी भावना या चित्तवृत्ति उदित होती है उसे उत्साह कहते हैं ।

हास्य—वाणी या अङ्ग-विकृति तथा अन्य प्रकार के विकारों से जो एक चित्तवृत्ति का प्रफुल्ल विकास उत्पन्न होता है उसे हास्य कहते हैं ।

भय—भयानक या घातक वस्तुदर्शन से जब हृदय में एक अनर्थ की भावना उत्पन्न होती है तब उसे भय कहते हैं ।

जुगुप्सा—कुत्सित वस्तु को देखकर जो घृणा और सशय उत्पन्न होता है उसे जुगुप्सा कहते है ।

इन स्थायीभावों की पुष्टि जब विभावादि से होती है तब रसानुभूति होती है । सेनापति ने इन सब सिद्धान्तों की अनुभूति करके रसों का वर्णन अत्युत्तम ढंग से किया है ।

शृङ्गार—शृङ्गार का सजीव वर्णन सेनापति के काव्य में है—संयोग शृङ्गार के स्वल्प छन्द ही सेनापति की कृति में उपलब्ध होते हैं ।

काम की कमान तोरी भृकुटी कुटिल आली,
तातैं अति तीछन ए तोर से चलत हैं ।
घूंघट की ओट, कोटि करिकै कसाई काम,
मारे बिनकाम, कामी केते ससकत हैं ।
तारे सैं न टूटैं, ए निकासे हू तैं निकसैं न,
पैने निसि बासर करेजे कसकत है ।
सेनापति प्यारी तेरे तमसे तरल तारे,
तिरछे कटाछ गड़ि छाती मैं रहत हैं ॥ २-४

तथा—हिय हरि लेत हैं निकाई के निकेत, हंसि
देत हैं सहेत, निरखत करि सैन हैं ।
सेनापति हरिनी के दृगन तैं नीके राजैं,
दरद हैं हरत, करत चित चैन हैं ।
चाहत न अंजन रसिक जन रंजन हैं,
खंजन सरिस रसराग-रीति ऐन हैं ।
दीरघ ढरारे, अनियारे, नैंक रतनारे,
कंज से निहारे कजरारे तेरे नैन हैं ॥ २-५

यहां पर नायिका आलम्बन विभाव है। कुटिल भृकुटी और सौन्दर्य तथा कटाक्ष उद्दीपन है। उनका कलेजे पर चुभना और न निकलना अनुभाव है। हर्ष या चिन्ता संचारी हैं, यह संयत शृङ्गार का आसक्तिमय चित्रण है।

आनँद मगन चंद महा-मनि-मन्दिर मैं,
रमैं सियराम सुख सीमा हैं सिंगार की।
पूरन सरद-ससि सोभा सों परस पाई,
बाढ़ी है सहसगुनी दीपति अँगार की।
भौन के गरभ, छबि छीर की छिटकि रही,
विविध रतन ज्योति अंबर अपार की।
दोऊ बिहंसत बिलसत सुख सेनापति,
सुरति करत छीर-सागर बिहार की॥ ४-२१

देखी प्रीति गाढ़ी बैंधे तन सुख ढाढ़ी जोर,
जोबन की बाढ़ी खिनखिन और होति है।
गोरी देह झीने बसन--मैं झलकति मानौ,
फानुस के अन्तर दिपति दीपज्योति है॥ २—५७

यहाँ पर राम और सीता परस्पर आलम्बन विभाव है। रत्नज्योति, पूर्णचन्द्र, स्वच्छआकाश उद्दीपन विभाव है। विहंसना, विलसना, रोमांच होना अनुभाव हैं। हर्ष तथा स्मृति संचारीभाव हैं। इनसे स्थायीभाव रति की पुष्टि होती है। यह उत्तम शृंगार का उदाहरण है।

अंजन सुरंग जीते खंजन, कुरंग, मीन,
नैंक न कमल उपमा कौ नियरात है।
नीके, अनियारे, अति चपल, ढरारे प्यारे,
ज्यौं-ज्यौं मैं निहारे त्यौं-त्यौं खरौ ललचात है।
सेनापति सुधा से कटाछनि बरसि ज्यावै,
जिनकौ निरखि हियौ हरषि सिरात है।
कान लौं बिसाल, काम भूप के रसाल, बाल,
तेरे दृग देखे मेरौ मन न अघात है॥ ३—१

"तेरे दृग देखे मेरौ मन न अघात है" में सौंदर्य पिपासा की जागृति है। यह सौंदर्योद्बोधन विशुद्ध शृंगार का द्योतक बन गया है प्रणय और आसक्ति की अभिव्यंजना इसका प्राण है (क्षणेक्षणे यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयतायाः)

चन्द्र की कला-सी चपला-सी तिय सेनापति,
बालम के उर बीज आनँद के बोति है।
जाके आगे कंचन मैं रंचक न पैयै रुचि,
मानौं मनि-मोती लाल-माल आगे पोति है॥

यहां पर आलम्बन नायिका है, चन्द्रकला-सी चपल कान्ति एवं झीने वसनों में गौर वर्ण की आभा का दर्शन होना उद्दीपन है। हाव, भाव, कटाक्ष, अनुभाव हैं इन सबके संयोग से रति की पुष्टि हुई है यहाँ पर सौंदर्य एवं माधुर्य का समुचित संयोग हुआ है, अतः स्वाभाविकता की अभिवृद्धि हुई है।

सौंह मो तिहारी, सेनापति है बिहारी! मैं तो,
गति मति हारी जब रंचक निहारी है। २--५९

यह रूप लावण्य पर मुग्ध होनेवाली मुग्धा की उक्ति है। इसमें शृंगार की जागृति एवं पुष्टि है, इसमें तमाशबीनों का सा हाहाकार नहीं है।

एक दूसरे स्थल पर मुग्धा नायिका नायक को देखकर तन, मन की सुध भूल जाती है। प्रेममयी भावना के अतिरेक के कारण वह आत्म-विस्मृति और अन्यवस्तु विस्मृति की दशा को प्राप्त हो जाती है। कुछ सचेत होने पर वह अपने को अत्यधिक आकर्षणवती बनाने का प्रयास करती है और अविलम्ब प्राप्ति की भावना को भी मन में स्थान देने लगती है। रतिभाव का सुन्दर चित्र इसमें दृष्टिगत होता है।

नीकी अंगना है, सब अंग नाहै, देखी जब,
निज अंगना है ठाढ़ी अंग सिंगारति है।
यह बसुधा रति है, ऐसो जसु धारति है,
केलि कौं सुधारति है देति सुधा रति है॥
पूरी कामना सकत, तोरौ ताकी आस कत,
सेनापति आस कत नींद बिसारति है।
बोलनै सराहति है, प्रान बलिहारति है,
तन-मन, हारति है, तोहि निहारति है॥ २—७०

सौंदर्य चित्रण द्वारा यहाँ पर शृंगार-रस चरमावस्था को प्राप्त हुआ है। यह उभय-निष्ठ सौंदर्य-शृंगार है।

सहज निकाई मो पै बरनी न जाई, देखे,
उरबसी हू कौं बिन दरप करति है।
तोहिं पाइ कान्ह, प्यारी होइगी बिराजमान,
ऐसे जैसे लीने संग दरपक रति है॥
देखे ताहि जियौं, बिन देखे पै न पानी पियौं,
सेनापति ऐसी अति अर पकरति है।

तातैं घनश्याम ताके आप ही पधारौ धाम,
जातैं सब सुखन की अरप करति है ॥ २—७१

यह भी विशुद्ध शृंगार का उदाहरण है, जिसमें निगूढ़ार्थ की अभिव्यक्ति संयत-रूप में होती है। ऐसे अनुपम उदाहरण कम पाये जाते है।

चारुत्वोत्कर्ष-निबन्धना में सेनापति ने रस को प्रधान और अलंकारों को गौण-स्थान दिया है। सेनापति ने अलंकारों के लिए पृथक् प्रयास नहीं किया। रस-पुष्टि में बहिरंग साधन-सामग्री के रूप में ही अलंकार रहे हैं।

जिस भाँति बाणभट्ट की कादम्बरी में कादम्बरी के दर्शन के समय चन्द्रापीड की उक्ति में नानालंकार स्वयं आगये हैं उसी भाँति सेनापति के काव्यवर्णन में भी। बाणभट्ट की भाँति सेनापति ने कहीं भी रस-व्याघात नहीं होने दिया।

श्लेषवर्णन में अवश्य रस अंगभूत बन गया है। अङ्गीधर्म अलंकार ही रहा क्योंकि वहाँ रसवर्णन ही श्लेश वर्णन अभीष्ट था। वह तो रसवदलंकार का विषय है।

हितसौं निरखि हंसे, तौ तैं तुम उर बसे,
स्वाति हेत चातक से हम तरसत हैं।
प्रीतम हौ ही के, हौ अधार सेनापति जी के,
तुम बिन फीके मन कैसे हुलसत हैं॥
तेरे नेह नाते, तेरे लागत परौसी प्यारे,
तेरी गली गए सुख सबै सरसत हैं।
तेरे मनोरथ चाउ, तेरेई दरस पथ,
तेरियै सपथ प्रान तोहि मैं बसत हैं॥ २–१४

यहाँ पर नायक आलम्बन है। हँसना उद्दीपन है। गली में आना-जाना अनुभाव है। नायक की अप्राप्ति के कारण चिन्ता एवं उदासीनता सचारी है। इनसे रस पुष्टि हुई है। अपनी सूक्ष्मबुद्धि के कारण कविने इस छन्द में परमाह्लाद के हेतु शृङ्गार को माधुर्यरूप में व्यक्त किया है। माधुर्य के समावेश के कारण 'तेरे नेह नाते तेरे लागत परोसी प्यारे' की उदात्तभावना का व्यापक दृष्टिकोण भी देखने को मिलता है।

१—प्रायः संयोग शृङ्गार में कवियों के काव्यों में अश्लीलत्व दोष आ जाता है। सेनापति भी इस दोष से मुक्त न रहे। प्रथम तरंग के कतिपय स्थलों पर ऐसे शब्द आ गये हैं जिन्हें सभ्यसमाज में स्पष्ट-रूप से नहीं कहा जा सकता। जिस किसी छन्द में भी इस भांति का दोष दृष्टिगत होता है उसका कारण अलंकारप्रियता ही है। क्योंकि वहाँ पर श्लेषार्थ को द्योति करने की प्रवृत्ति से भी ऐसा हुआ है।

१—प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्रागतु रसादयः।
काव्ये तस्मिन् अलंकारः रसादिरिति मे मतिः॥

१, २—६५। ३—४४। १—९४

विप्रलम्भ

काव्य के चारुत्व एवं उत्कर्ष के विधान में विप्रलम्भ-शृंगार का विशेष महत्त्व होता है। शास्त्रीय विधान है कि :—

न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते।
काषायिते हि वस्त्राद्यैः भूयान् रागो विवर्धते॥

विप्रलम्भ-शृंगार के विना शृङ्गार की पुष्टि नहीं होती। जिस भाँति काषाय-वस्त्र धारण करने से वैराग्य की वृद्धि होती है उसी भांति विप्रलम्भ के कारण शृङ्गार अत्यधिक परिपुष्ट होता है। विप्रलम्भ के विषय में साहित्य-दर्पणकार का मत है कि—

"यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ" अर्थात् जहां अनुराग तो उत्कृष्ट हो परन्तु प्रिय-समागम न हो उसे विप्रलम्भ कहते हैं, यह चार प्रकार का होता है। पूर्णराग, मान, प्रवास और करुण-हेतुक।

गुण-श्रवण या चित्र-दर्शन के कारण उत्पन्न नायक, नायिका का प्रथमानुराग पूर्व-राग कहा जाता है। यह गुण-श्रवण दूत, भाट, चारण या सखियों के द्वारा होता है। चित्र-गत या स्वप्नगत साक्षात्कार का इसमें प्राधान्य होता है।

अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण, काम की ये दश दशाएँ विप्रलम्भ की परिचायिका होती हैं।

नन्द के कुमार मार हू तैं सुकुमार, ठाढ़े,
हुते निज द्वार प्रीति-रीति परबीन हैं।
निकसि हौं आई, देखि रही सकुचाई, सेना-
पति जदुराई मोहिं देखि हँस दीन हैं॥
तब तैं हैं छीन छबि देखिबे कौं दीन, सब
सुधि बुधि हीन हम निपट अधीन हैं।
बिरह मलीन, चैन पावत अलीन, मन
मेरो हरि लीन तातैं सदा हरि लीन हैं॥ २—१३

नायिका, नन्द के कुमार जो मार (काम) से भी अधिक छविमान हैं—को उन्हीं के द्वार पर खड़ा देखती है। नायिका उन्हें देखकर सकुचा जाती है। नन्दकुमार भी उसे देखकर हँस देते हैं। तब से वे दिखाई न पड़े। नायिका देखने की इच्छा करती है। उसकी छवि क्षीण होने लगती है। वह सुध-बुध भूली सी रहती है। विरह से मलिन हो जाती है। यहां पर चाक्षुष-प्रत्यक्ष-जन्य-अभिलाषा है। यह विप्रलम्भ शृङ्गार है।

सैन समै सुखधाम, सेनापति घनस्याम,
कहत हैं मोसौं मेरे तुही सरबस है।

अब तौ विरमि रहे, जानौं कित रमि रहे,
सुरत्यौ बिसारी भयौ दूभरी दरस है ॥
प्रीति करि मोहिं तरसावत हौ मोही, तुम,
लाल निरमोही मन कीनौ करकस है ।
बीती बरष-सी आप पाती हूं कौं अरकसी
ऐसी चित बसी तौ हमारौ काह बस है ॥ २—१८

नायिका, आलम्बन ; शून्य-वातावरण, उद्दीपन ; अङ्ग-प्रत्यङ्गों का दुबलाहोना, अपने को सर्वस्व मानना, अनुभाव—और स्मृति एवं चिन्ता संचारीभाव हैं। नायिका घनश्याम से कहती है कि तुम न जाने कहां रम गये हो, हे निठुर, तुमने अपना मन इतना निर्मोही क्यों बना दिया। यहां पर विप्रलम्भ की पुष्टि स्मृति, चिन्ता और अभिलाषा से होती है।

चले तैं तिहारे पिय बाढ्यौ है बियोग जिय,
रहियै उदास छूटि गयौ है सहाइ सौ।
लोचन स्रवत जल, पल न परति कल,
आनँद कौ साज सब धर्यौ है उठाइ सौ।
सेनापति भूले से सदा रहियत तौ तैं,
ज्ञान, प्रान, तन, मन लीनौ है चुराइ सौ।
कछू न सोहाइ, दिन राति न बिहाइ, हाइ,
देखे तैं लगत अब ऊजर सौं पाइसौ ॥ २—२२

यहां पर परिस्थिति की वास्तविकता को बतातेहुए विप्रलम्भ का मार्मिक-चित्रण किया गया है। यह कवि की प्रभावोत्पादक, विधायक-प्रतिभा का कार्य है। प्रेमिका के लिए प्रेमी ही सब कुछ है और जब वही कहीं चला गया तो क्यों न उसको घर उजाड़ और शून्य लगे। यह प्रवास-हेतुक विप्रलम्भ है।

वाके भौन बसे, भौ न-कीजै हौं न मानौ रोस,
कहौ एती कौन तैं सकुच उर आनी है।
सेनापति आवत बनावत हौ प्रात बात,
निपट कुटिल सब कपट की बानी है॥
रावरे सुजान ! हम बावरे अजान···इत्यादि।

यह मान-वती की उक्ति है। नायिका मान में आकर कहती है—तुम उसी के घर रहो पर हमसे संकोच क्यों करते हो। प्रभातकाल आते ही बातें बनाने लगते हो। तुम तो कपट के भण्डार हो। हम तो तुम्हारे विना उदास रहती हैं, तुम्हारे हाथ बिक चुकी हैं। तुम बड़े चतुर हो, हमे तो तुम अनजान समझते ही हो। यहां पर नायक, आलम्बन। बातें उद्दीपन, अनुनय करना अनुभाव और ईर्ष्या संचारीभाव है। ईर्ष्याजन्य मान में रति की

पुष्टि नहीं हो सकी। इसी भांति–दूसरी तरंग के ३४-३५ छन्द में भी मान का भावान्वित और सुन्दर उदाहरण है। सेनापति ने मानवर्णन में–स्वाधीनभर्तृका, खंडिता, अभिसारिका, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषित-पतिका, प्रगल्भा आदि के औदार्य, धैर्य, लीला-विलास, चिक्रिया आदि का पूर्ण चित्रण किया है।

प्रवास जन्य—शापवश, भयवश, अथवा कार्यवश नायक के अन्य देश चले जाने को प्रवास कहते हैं। इसमें संताप से पिघलाहुआ नायिका का हृदय आंसुओं में परिणत हो जाता है। अरुचि, संताप, दुर्बलता आदि दशाओं की अनुभूति उसे होती है।

सेनापति ने एक छन्द में इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है।

वैसौ करि नेह एक प्रान विविदेह, अब,
ऐसी निठुराई करि कौ लौं तरसाइहौ।
बिरह तैं ताते, सेनापति अति राते, ऐसे,
कब दुख मोचन ए लोचन सिराइहौ॥
पाती पीछे-पीछे हम आवत हैं निरधार,
यह हरिबेर हरि लिखत बनाइहौ।
मोहिं परतीत न तिहारी कछू, कहा जानौं!
कौन वह पाती जाके पीछे आप आइ हौ?॥ २—१९

नायिका पति के परदेश चले जाने से विरहाकुल है। उसके लोचनों की दर्शन-प्यास नहीं मिटती, और कहती है न जाने कौन सा पत्र होगा जिसके पीछे तुम भी घर आओगे? यह विरह का चित्रण हाहाकारी नहीं है और न अस्वाभाविक ही है।

जौ तैं प्रान प्यारे परदेश कौ पधारे तौ तैं,
बिरह तैं भई ऐसी ता तिय की गति है।
करि कर-ऊपर कपोलहिं कमलनैनी,
सेनापति अनमनी बैठियै रहति है॥
कागहिं उड़ावै कौहू कौहू करै सगुनौती,
कौहू बैठि अवधि के बासर गनति है।
पढ़ि-पढ़ि पाती कौहू फेरि कै पढ़ति, कौहू।
प्रीतम कौ चित्र मैं स्वरूप निरखति है॥ २—६१

यहाँ पर प्रवास-विरह के कारण नायिका की ऐसी गति है कि वह एक स्थिति में रह ही नही सकती, उद्विग्नता के कारण अपने अशान्त मन को शान्त करने की चेष्टा करती है पर चित्त स्थिर नहीं रहता। फिर चित्रगत प्रत्यक्ष से ही कुछ शान्ति पाती है। यहाँ पर चिन्ता, तर्क, उन्माद और चित्र-दर्शन विरह के पोषक हैं। ऐसे ही और भी उदाहरण हैं। २—४३ में।

विरह-मरण का भय भी सेनापति ने दिखाया है।

नीके हौ निठुर कन्त, मन लै पधारे अन्त,
मैन मयमन्त, कैसे बासर बराइ हौं।
आसरौ अवधि कौं सो अवध्यौ बितीत भई,
दिन दिन पीत भई, रही मुरझाइ हौं॥
सेनापति प्रानपति साँची हौं कहति एक,
पाइ कै तिहारे पाइ प्रानन कौं पाइ हौं।
इकली डरी हौं, धनु देखि कै डरी हौं, खाइ,
बिस की डरी हौं, घनस्याम मरि जाइ हौं॥

इसमें ऋतुजन्य-प्रवास-हेतुक, वियोग नायिका की मरणावस्था को बताने के लिए किया गया है। शंका, स्मृति, चिन्ता, संचारीभाव हैं। ३--१६ और २--२३ तथा २--२८ और ४२ में इसी प्रकार के विरह चित्र हैं। जिनमें सेनापति की सुकुमार भावनाओं का सुन्दरविकास हुआ है।

कुछ लोगों का कथन है कि विरह-वर्णन में सेनापति की जानकारी सीमित दिखाई पड़ती है। उन्होंने विरह की साधारण घटनाओं का ही वर्णन किया है। उनका विरह-वर्णन स्वाभाविक होने पर भी अपूर्ण है। हम इस विचारधारा से सहमत नहीं हैं। हम बता चुके हैं कि विरह-वर्णनोपयोगी वातावरण और वस्तुओं का तथा अन्य प्रयोगों का प्रयोग सेनापति ने अपने काव्य में किया है। प्रवास और विरह-हेतुक-वियोग-वर्णन में सेनापति ने मानसिक, स्थिति का सूक्ष्म-विश्लेषण किया ही है। फिर जितने संचारियों के कारण विरह की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है, उनका समुचित भाव-जागरण सेनापति ने प्रयोग किया ही है। जैसे हमने मान के उदाहरण में बताया है। और भी इन छन्दों में देखिये कि कितनी स्वाभाविकता के साथ विरह पुष्ट हो रहा है :-

आप ईस सैल ही मैं अलकै बहुत भांति,
राखत बसाइ उत मानत सुरति हौ।
धनि हैं वे लोक आसा पालत (हौ) जिनकी तुम,
सन्तत रहत तजे दच्छिन की गति हौ॥
सेनापति ईठि है न एक सी निहारी डीठि,
निरखत सब ही कौं लाल द्वै जुगति हौ।
धरौ निधि नील बास उत्तर सुधा रत हौ,
आए हौ कुबेर जु बहुत धनपति हौ॥ १--६२

यहाँ पर 'बहुत धनपति हौ' और 'उत्तर सुधारत हौ' इन शब्दों के द्वारा ईर्ष्या-युक्त नायिका दक्षिण नायक से मान के समय कह रही है कि तुम बहुत स्त्रियों के स्वामी हो

अन्य स्त्रियां आलम्बन हैं। उनके साथ का सम्पर्क उद्दीपन, झूठी बातें बनाना अनुभाव और ईर्ष्या संचारीभाव है। आलंकारिक चमत्कार के साथ यह उपालम्भ की अभिव्यञ्जना मार्मिक और गूढ़ है।

'चित्त चुभि आनि मुसकानी मनभावन की' तथा जब 'गलीवाकी नैक पांव धरियति है' एवं 'लोक उतपाती करें कानाकानी' और 'आंखि भरि देखिबे की साध मरियत है' में आलम्बन नायक, मुस्कान उद्दीपन, कुल की का कानि न त्यागना, नेह का बढ़ाना अनुभाव। चैन न पड़ना संचारीभाव है। इनमें मनोवेगों का सूक्ष्म-परीक्षण और अनुभूति है।

भाव की गम्भीरता, परिस्थितियों का चित्रण, मार्मिकता, सुबोधता, सेनापति के गुण हैं। सेनापति ने प्रत्येक परिस्थिति में अपने को डालकर तद्रूपतानुभूति के द्वारा अपनी भावुकता की अभिव्यक्ति की है। छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी घटना का एक ही मूल्य है सेनापति की दृष्टि में।

सेनापति ने जिस रस को भी अपनाया उसका परिपाक पूर्ण होने दिया। सेनापति का विरही व्यक्ति विभिन्न ऋतुओं के दृश्यों को भी देखता रहा है और ऋतुओं से प्रभावित भी हुआ है। वहां उसे अपनी भावनाओं के विकास का विस्तृत क्षेत्र मिला है। और रोदन भी। वेदना भी मिली है और व्यावहारिकता भी। वह प्रकृति के तमाशबीनों की भांति नहीं रहा है। रागमयी वृत्तियों के साथ प्रकृति ने उसकी वेदना की पुष्टि का काम किया है। सेनापति के काव्य में विरह की सूक्ष्म गति-विधि का पूर्ण समावेश है यह हम कह सकते हैं।

वीर रस

वीररस उत्तमपात्र का आश्रय पाकर अपनी सत्ता का साङ्ग-विकास करता है। इसका स्थायी-भाव उत्साह, जेय-साधन आलम्बन, चेष्टायें उद्दीपन हैं, सहायक धनुष बाण, सैन्यादि अनुभाव हैं, धैर्य, अति, गर्व, स्मृति, तर्क रोमांच इसके संचारीभाव माने गये हैं। वीररस चार प्रकार का होता है। दानवीर, दयावीर, धर्मवीर और युद्धवीर।

दानवीर—परशुराम, कर्ण, दधीचि शिबि आदि।

दयावीर—जीमूत माहनादि।

धर्मवीर—युधिष्ठिरादि।

युद्धवीर—रामादि।

सेनापति के राम में चारों गुण विद्यमान हैं। यद्यपि कवित्तरत्नाकर में सीता-स्वयंवर, राम-रावण युद्ध इत्यादि से सम्बन्धित छन्द हैं फिर भी कवि ने रामरसायन के वीरोत्साह समन्वित स्थलों पर पूर्णदृष्टि रखी है। राम-रावण युद्ध, हनुमान् का शौर्य तथा

पराक्रम राम की अजेय-शक्ति की ओर सेनापति का ध्यान रहा है।

वीररस के छन्दों में प्रमुखता युद्धवीर को दी गई है।

* * * *

किधौं मारतण्ड के द्वै मंडल अडंबर सौं,
अंबर मैं किरन की छटा बरसत हैं॥
मूरति कौ घेर सेनापति द्वै धनुर वृन्द,
तेज रूपधारी किधौं अस्त्रनि अरत हैं।
हेमरथ बैठे महारथी, हेम बानन सौं,
गगन मैं दोऊ राम रावन लरत हैं॥

राम-रावण की वीरता के समान दर्शन में परस्पर दोनों एक दूसरे के आलम्बन हैं। एक दूसरे की वीरता एक दूसरे को उद्दीप्त कर देती है। बाणवर्षा अनुभाव है तथा हर्षामर्ष संचारीभाव हैं। इस भांति के युद्धवर्णन चन्द और नाल्ह के भी हैं जिसके आधार पर ऐसा विदित होता है कि मानों वे युद्ध-स्थल पर स्वयं दर्शक रहे हों। सेनापति के चित्रण भी भावपूर्ण हैं।

सारंग धनुष कुण्डलाकृति बिराजै बीच,
तामस तैं लाल मुख लाल कौं लसत है।
कान मूल कर, हेम-बान कौं करत भर,
ताकौं सुर नर चलत न (?) दरसत है॥
ताकी उपमा कौं सेनापति को बखानि सकै,
एक अंस मन उपमाहिं परसत है।
मण्डल के बीच भानु-मण्डल उदित मानौं,
तेज-पुञ्ज किरन समूह बरसत है॥ ४—६६

इसमें केवल उत्साह की झलक-मात्र है। चौथी तरंग के ६५वें छन्द में राम और रावण की वीरता का समान वर्णन किया गया है। किन्तु सेनापति ने भक्त-हृदय होने के कारण तथा भारतीय परम्परा के निर्वाह के कारण रावण को राम से हीन वीरत्व का द्योतित कर ही दिया। इष्टदेव की प्रभुत्व-शक्ति विशेषतया होनी ठीक भी थी।

चुरइ सलिल उच्छलइ भानु, जलनिधि जल झंपिय,
मच्छ कच्छ उच्छरिय दिखिय अहिपति उर कम्पिय।
लपट लग्गि उच्छरत चटकि फुट्टत नग पत्थर,
सेनापति जय सद्द विरद बोलत विद्याधर।
अतिज्वाल-जाल पज्जलिय धिरि चहइ भग्गि बाड़व अनल।
प्रगट्यौ प्रचंड पत्ताल जिमि, रामबान-पाउक प्रबल॥ ४—४४

इसमें वीररसोचित शब्दों द्वारा रामबाण का पराक्रम प्रदर्शन किया गया है।

वीर-रस मद माते, रन तैं न होत हांते,
दुहू के निदान अभिमान चाप-बान कौं।
सर बरषत, गुन कौं न करषत मानौं,
हिय हरषत जुद्ध करत बखान कौं॥
सेनापति सिंह-सारदूल से लरत दोऊ,
देखि धधकत दल देव जातुधान कौं।
इत राजाराम रघुबंस कौं धुरंधर है,
उत दसकंधर है सागर गुमान कौ॥ ४—५८

इसमें परस्पर दोनों वीर आलम्बन है। दोनों का पराक्रम उद्दीपन है। बाणों का बरसना अनुभाव है। हृदय का हर्ष संचारी है। इनसे स्थायीभाव उत्साह की पुष्टि होती है।

अंगद की वीरता—बालि कौं सपूत, कपि-कुल पुरहूत, रघु-
बीर जी कौ दूत, धारि रूप बिकराल कौं।
जुद्ध-मद गाढ़ौ, पांउ रोपि भयो ठाढ़ौ, सेना-
पति बल, बाढ़ौ रामचन्द्र भुवपाल कौं॥
कच्छप कहलि रह्यौ, कुण्डली टहलि गए,
दिग्गज दहलि, त्रास पर्‌यौ चकचाल कौं।
पांउ के धरत अति भार के परत, भयौ
एकै है परत मिलि सपत-पताल कौं॥ २—५५

इसमें अंगद की वीरता की मुद्रा का चित्रण सफल हुआ है।

दया और दानवीर

* * * *

सेनापति दया-दान-बीरता बखानै कौन,
जो न भई पीछे, आगे होनी न खलक मैं।
परम कृपाल, रामचन्द्र भुवपाल विभी-
षन दिगपाल कीनौ पांचई पलक मैं॥ ४—३९

दान—* * * *

देखौ दान बीरता निदान एक दान ही मैं,
कीने दोऊ दान को बखानै सत्यसंध कौं।
लंका दसकंधर की दीनी है विभीषन कौं,
संकाऊ विभीषन की दीनी दसकंध कौं॥ २—४०

धर्मवीर—बज्र हू दलत, महाकालै संहरत, जारि-
भसम करत प्रलैकाल के अनल कौं।
झंझा पवमान अभिमान कौं हरत बाँधि,
थल कौं करत जल, जल करैं थल कौं॥
दब्बै मेरु-मन्दर कौं फोरि, चकचूर करैं,
कीरति कितीक हनैं दानव के दल कौं।
सेनापति ऐसे राम-बान तऊ विप्र हेत,
देखत जनेऊ खैंचि राखैं निज बल कौं॥ ४—२८

इस स्थल पर परशुराम का क्रोध उत्साह-वर्धक है। परन्तु परशुराम के जनेऊ को देखकर उन्हें ब्राह्मण समझकर धर्म-भावना से राम अपने बल को रोक लेते हैं और परशुराम से नहीं लड़ते हैं। इसमें धर्म-भीरुता के साथ-साथ मर्यादा का संयम भी है। चौथी तरंग के २८, ४०, ६० वें छन्द भी वीर-रस के सुन्दर उदाहरण हैं।

वीररस के लिए परुष-शब्दों का प्रयोग सेनापति ने कम किया है। परन्तु ओज की न्यूनता कहीं पर भी न होने दी। सरस शब्दों में ओज की मात्रा का अस्तित्व रख देना भाषाधिकारिता और चित्रण की महती-शक्ति का काम है। रसवर्णन में मर्यादित स्थिति भी वे न भूले। अंगद और हनुमान् के शब्दों में वस्तु-स्थिति का उल्लंघन नहीं होने पाया। समुद्र-बन्धन, सैन्य-संगठन वानरों का प्रोत्साहन लंका में (हनुमान् और अंगद) जाकर रावण के सुप्त अभिमान का जागरण इन प्रकरणों में उत्साह का मार्मिक-वर्णन समर्थ उपादानों के बल पर किया गया है। वीररस के विकास की सब सामग्री उसमें निहित है। उत्साह की समुचित-पुष्टि के कारण ही सेनापति का वीररस उत्तमता का भागी हुआ है।

रौद्र रस

रौद्र-रस के उदाहरणों की सेनापति के काव्य में न्यूनता है। दो चार छन्द ही ऐसे मिलेंगे जिनमें रौद्ररस हो।

भीज्यौं है रुधिर, भार भीम घनघोर धार,
जाकौं सत-कोटि हू तैं कठिन कुठार है।
छत्रियन मारि कै, निछत्रिय करी है छिति,
बार इकईस तेज पुञ्ज कौ अधार है॥
सेनापति कहत कहाँ हैं रघुबीर कहौ,
छोह भर्‌यौ लोह करिबे कौ निरधार है।
परत पगनि, दसरथ कौं न गनि, आयौ,
अगनि-सरूप जमदगनि - कुमार है॥ २—२६

परशुराम का कुल्हाड़ा शोणित से सना हुआ है। वह रघुवीर को ढूंढ़ रहा है। जिसने उसके गुरु का धनुष तोड़ा है, वह उसका वध करेगा। रघुवीर ने क्या धनुष तोड़कर उसे युद्ध की चुनौती दी है? शिवधनु भंग इसमें आलम्बन है। टूटा हुआ धनुष और धनुष के भंग होने का शब्द दोनों उद्दीपन हैं। राम का वीरत्व अनुभाव है। ग्लानि, चिंता, उद्वेग, आमर्ष संचारीभाव हैं। इनसे क्रोध की पुष्टि हुई है। क्रोध का यह सजीव चित्रण है।

भयानक

सेनापति राम अरिसासना के साइक तैं,
प्रकट्यो हुतासन अकास न समात है।
दीनमहा मीन जीव-हीन जलचर चुरैं,
बसन मलीन कर-मीड़ै, पछितात है॥
तब तौ न मानी, सिंधुराज अभिमानी, अब,
जाति है न जानी कहा होत उतपात है।
संका तै सकानी, लंका रावन की राजधानी,
पजरत पानी धूरि-धानी भयौ जात है॥ ४–२

रामबाण आलम्बन—उससे अग्नि प्रकट होना उद्दीपन। हाथ मीड़ना और पछताना अनुभाव, उद्विग्नता एवं चिन्ता संचारीभाव हैं, इनके योग से भयानक की पुष्टि हुई है।

तथा— * * *

जेई जल-जीव बड़वानल के त्रास भाजि,
एकत रहे हैं सिंधु सीरे नीर आइ कै।
तेई बान पाउक तैं, भाजि के तुसार जानि,
धाइ कै परे हैं बड़वानल मैं जाइ कै॥ २–४८

हहरि गयौ हरि हिए, धधकि धीरत्तन मुक्किय।
ध्रुव नरिंद्र थरहर्‌यौ, सेस धरनी धसि धुक्किय॥
अक्खि दिक्खि नहिं सकइ; सेस नक्खिन लग्गिय तल॥ ४–१६

विरच्यौ प्रचण्ड बरिबण्ड है पवन पूत–
* * *
सेनापति धीर कोई धीर न धरत सुनि,
घूमत गिरत गजराज हैं दिसान के॥ ४–३७

विपक्षी–आलम्बन। पत्थर फेंकना, बाण चलाना अनुभाव। शंका और त्रास संचारीभाव है। हनुमान् की गर्जना सुनकर अन्य प्राणियों का धैर्य छोड़ना और दिग्गजों का घूमकर गिर पड़ना भय है, इससे भयानक की पुष्टि हुई है।

अद्भुत

बहुरि बराह अवतार भयौ, किधौं दिन,
बिन ही प्रलै प्रगटत प्रलै-काल के।
सेनापति फेरि सुरासुर हैं मथत किधौं,
छिपै छीर-धर त्रास असनि कराल के॥
सोचत सकल अप-अपने विकल जिय,
लागत प्रबल बान राम भुवपाल के।
परी खलभली जलनिधि जल होत थल,
काँपे हल हल खल दानव पताल के॥ ४-४८

यहाँ पर राम पराक्रम आलम्बन है। रामबाणों का आश्चर्यजनक-कार्य उद्दीपन है। समस्त वातावरण में खलबली मचना अनुभाव है। त्रास और आश्चर्य संचारीभाव हैं। विस्मय स्थायीभाव की पुष्टि होने के कारण यह अद्भुत है।

(किन्तु यह भयानक रस परिपूर्ण छन्द भी है।)

सकल सुरेस देस-देस के नरेस, आइ,
आसनन बैठे जे महा-गरूर धरि कै।
जोबन के मद, कुल-मद, भुजबल, मद,
संपति के मद सौं रहे निदान भरि कै॥
सेनापति कहैं, राम रूप धरषित भूप,
ह्वै रहे चकित पै न रहे धीर धरि कै।
भूल्यौ अभिमान, देखे भानु-कुल-भानु, सब,
ठाढ़े सिंहासन तें वै ह्वै रहे उतरि कै॥ २—१२

यहां पर राम आलम्बन हैं। रूप-सौन्दर्य उद्दीपन है। चकित रहना अनुभाव—धीर न धरना व्याकुलत्व संचारीभाव है। रामरूप को देखकर विस्मित होना स्थायीभाव है। अद्भुत रस का यह सुन्दर उदाहरण है। चौथी तरंग का ५० वाँ छन्द भी अद्भुत का उत्तम उदाहरण है।

हास्य

चण्डिका रमन मुण्डमाल मेरु करिबे कौं,
मुण्ड कुम्भकरन कौं मांग्यौ चित चाइकैं।
सेनापति संकर के कहे अनगन गन,
गरब सौं दौरे दर-बर सब धाइ कै॥

जोर कै उठायौ, जुरि मिलि कै सबन तौंही,
गिरि हू तैं गरुओ गिर्‌यो है डगुलाइ कै।
हाली भुव, गगन की आली चपि चूर भई,
काली भाजी, हँस्य है कपाली हहराइ कै॥ ४—६३

इसमें कुम्भकरन का मुंड आलम्बन, उसका भारीपन उद्दीपन, गणों का दौड़ना अनुभाव, सिर के गिरने से उद्विग्नता संचारी है—शंकर का हँसना हासभाव है। इनसे हास्यरस की प्रतीति होती है।

तथा—पाँचवीं तरंग का ६०वां छन्द एवं ४थी तरंग का १९वां छन्द भी हास्यरस के उदाहरण हैं। सेनापति का हास्यरस अपहास या अतिहास नहीं है। वह स्मित हास्य है। जिसमें मुस्कानमात्र का महत्व विशेष है। खिलखिलाकर हँसना अपहास हो जाता है।

वीभत्स

जहां तक हमने कवित्तरत्नाकर पर विचार किया हमें यह ज्ञात हुआ कि वीभत्स का उसमें कोई उदाहरण नहीं है। केवल कहीं-कहीं पर शाब्दिक प्रयोग हैं, पर उससे घृणा के भाव की जागृति नहीं होती है। वीभत्स के लिए घृणोत्पादक साधनों की आवश्यकता होती है। राम रावन के युद्ध में भी कहीं पर यह नहीं दिखाया गया है कि लाशें पड़ी हैं और उन्हें गीध एवं शृगाल खा रहे हैं, कहीं चर्बी की दुर्गंध आ रही है इत्यादि। मालूम होता है कि सेनापति ने इधर ध्यान ही नहीं दिया। साथ ही इनकी रचना में विशुद्ध करुणरस का भी अभाव है। करुण के लिए वस्तु-विनाश-जन्य-शोक की आवश्यकता होती है। परन्तु करुण विप्रलम्भ के उदाहरण अनेक हैं। विप्रलम्भ-प्रसूत करुण के दर्शन तो इनके काव्य में होते हैं।

करुण विप्रलम्भ

कौनैं बिरमाए, कत छाए, अजहूँ न आए,
कैसे सुधि पाऊँ प्यारे मदनगुपाल की।
लोचन जुगल मेरे तादिन सफल ह्वै हैं,
जादिन बदन छवि देखौं नँद-लाल की॥
सेनापति जीवन-अधार गिरिधर बिन,
और कौन हरै बलि बिथा मो बिहाल की।
इतनी कहत, आँसू बहत, फरकि उठी,
लहर लहर दृग बांई ब्रज-बाल की॥ २—६८

तथा—बीतिहै अवधि, हम अबला अवध, ताहि,
बधि कहा लैहौ, दया कीजै जीव जंत की॥ २—६७

इस छन्द में भी करुण विप्रलम्भ है।

शान्त

शान्तरस का स्थायीभाव 'निर्वेद' है संसार की नश्वरता और सांसारिक पदार्थों के प्रति विरक्ति के भाव के आने से 'निर्वेद' की तीव्रता आती है। शान्तरस का परिपाक प्रायः कुछ अपवादों को छोड़कर वृद्धावस्था में ही होता है; या फिर शान्तरस की अनुभूति उस समय भी होती है जब हमें अपने किसी प्रिय व्यक्ति के वियोग और अप्रिय व्यक्ति के संयोग की परिस्थिति में आना पड़ता है।

रसज्ञ-शास्त्रियों में से कुछ लोगों ने शान्त को रस नहीं माना है।

उनका कथन है कि—शान्तस्य शम साध्यत्वात् नटे च तदसम्भवात्।
अष्टावेव रसानाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते॥

परन्तु विशेषकर यह नियम नाटक के लिए ही है काव्य के लिए नहीं। और पण्डितराज जगन्नाथ ने तो दृश्य-काव्य और श्रव्य-काव्य दोनों में शान्त रस की सत्ता स्वीकार की है। शान्तरस के उदाहरण सेनापति के काव्य में न्यून हैं, पर सुन्दर हैं।

नीकी मति लेह, रमनी की मति लेह, मति,
सेनापति चेत कछू पाहन अचेत है।
करम करम करि करमन कर, पाप,
करम न कर मूढ़ सीस भयौ सेत है॥
आवै बनि जतन ज्यौं, रहै बनि जतनन,
पुन्निके बनिज तन मन किन देत है।
आवत बिराम, बैस बीती अभिराम, तातैं
करि बिसराम भजि रामैं किन लेत है। ५—११

तथा—कीनौ बालपन बालकेलि में मगन मन,
लीनौ रसना-पै तरुनी के रस तीर कौं।
अब तू जरामैं पर्‌यौ मोह पींजरा मैं सेना-
पति भजु-रामै जो हरैया दुखपीर कौ॥
चितहिं चिताउ भूलि काहू न सताउ, आउ,
लोहे कैसौ ताउ, न बचाउ है शरीर कौ।
लेह देह करि कै, पुनीत करि लेह देह,
जीमै अवलेह देह सुरसरि नीर कौं॥ ५—१२

इसमें स्थायीभाव निर्वेद की पुष्ट अभिव्यञ्जना हुई है। इसी भांति ५वीं तरंग के १४, ३१ और ४४वें छन्द में भी शान्तरस विद्यमान है।

सेनापति के काव्य की भाषा

काव्य सौष्ठव के लिए काव्य में सक्षम-भाषा की उपादेयता अनिवार्य है। सुन्दर भावों के होतेहुए भी सक्षम-भाषा के विना काव्य उस अर्धदग्ध शरीर के समान है जिसमें सौंदर्य तो रहता है किन्तु ज्वलित विकृति के कारण उसके सौंदर्य में आकर्षण नहीं रहता। हृदय की पवित्रता होने पर भी जिस प्रकार कुष्ट रोगी किंवा क्षय के रोगी से लोग घृणा करते हैं ठीक उसी प्रकार भाषा के सौष्ठव के अभाव में आभ्यन्तर गुणों के उत्कर्ष में भी न्यूनता आ जाती है, और अरुचि उत्पन्न हो जाती है। इसीलिए कवि को या साहित्यिक को काव्य के बहिरंगपक्ष भाषा पर भी विशेष ध्यान देना पड़ता है। उसकी भाषा में अभिधेय, लाक्षणिक एवं व्यंग्यार्थ प्रकाशन के योग्यतावाले शब्दों का प्रयोग होना चाहिए।

शब्द-संगठन, वाक्य-विन्यास, सुवर्ण-चयन, वैलक्षण्य भावपूर्णता, गम्भीर भावानुभूति, और व्यंजना की शक्ति इनका होना किसी भी प्रबुद्ध एवं जागरूक प्रतिभाशाली कवि के काव्य में अनिवार्य है। सेनापति के काव्य के अध्ययन से यह विदित होता है कि सेनापति की भाषा इन सब गुणों से सम्पन्न है। आचार्य शुक्लजी के शब्दों में :—

"जान पड़ता है कि भाषा पर कवि का पूर्ण अधिकार है। ऐसी सुन्दर, सरस और सुव्यवस्थित भाषा बहुत ही थोड़े कवियों की पायी जाती है।"

बात सत्य है। सेनापति की भाषा में चित्र-चित्रण की शक्ति प्रस्फुटित हो गई है। उसकी शब्दावली में सुचारु-गुम्फन है। सजीवता तथा साकारता का प्रतिपादन उसका विशेष गुण है। इसीलिए उसमें प्रभावोत्पादकता—चित्ताकर्षकता, सुन्दरता पाई जाती है, जिसे अलकार योजना के विधान ने एक विशेषकोटि में रख दिया है।

*　　*　　*　　*

बीती औधि आवन की, लाल मन भावन की,
डग भई बावन की, सावन की रतियाँ ॥ ३—२८

प्रस्तुत कवित्त में पावस-ऋतु का वर्णन किया गया है। इस वर्णन में अलंकार का आधार लेकर सेनापति ने सावन की रात्रिकी कल्पना वामन के डग से दी गई है। वामनावतारी भगवान् ने अपनी डगों को इतना विशाल बना दिया कि उनकी माप के लिए जब धरा का आधार न रहा तो तीन ही डग के लिए स्वयं बलि को अपना मस्तक देना पड़ा।

विरहिणी अपने प्रिय की स्मृति में लीन है। हृदय में एक हूक भी उठ रही है। प्रिय ने सावन में आने की जिस अवधि का निश्चय किया था वह बीत चुकी है। प्रिय के अभाव में उसे सावन की रातें वामन की डग के समान विशाल और विस्तृत हो रही हैं। प्रिय के अभाव में रातें काटने पर भी नहीं कटती हैं अतः उनका साम्य, आधिक्य एवं

विस्तार को द्योतित करने के लिए वामन की डग से किया गया है। यह उत्प्रेक्षा अलंकार का चमत्कार है। अनुप्रास की प्रचुरता के कारण माधुर्य एवम् विरह-वेदना की तीव्रता की व्यंजना की गयी है। "श्रावणी यह शर्वरी कैसे कटेगी हाय" में भी यह भाव है। पर इस छन्द में सेनापति की सजीव और मधुर भाषा ने प्राण भर दिया।

वरकी, खरकी, आवनकी, भावनकी, सावनकी, वामन की इत्यादि शब्दों की योजना भाषा-सौष्ठव को द्योतित कर रही है। सेनापति के पास मधुरभावाभिव्यंजक शब्दों की न्यूनता नहीं है। उनकी भाषा में गति है, स्वच्छन्द प्रवाह है और उसमें अर्थ-वाहक गति भी है।

*　　*　　*　　*

'पहिले तौ मन मोहौ, पीछे कर तन मोहौ,
प्यारे तुम साँचे मनमोहन कहाए हैं॥ १ त० ६० छंद

इसमें भाषा के प्रसाद-गुण के साथ मनमोहनकी योजना का क्रम कितना सार्थक है। सेनापति ने अन्य कवियों की भांति शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने की चेष्टा की है किन्तु उनके साथ मनमाना खिलवाड़ नहीं किया है।- केवल यतिभंग दोष उसमें है। पर हम यह देखते हैं कि भाषा पर पूर्णाधिकारिता के कारण सेनापति ने वाक्य-विन्यास समुचित ढंग से किया है। सेनापति की भाषा यद्यपि तड़क-भड़क से युक्त है, अलंकृत है, फिर भी अलंकारों की योजना के लिए वशवर्तिनी भाषा की सत्ता में न्यूनता नहीं आने पाई। कवि का श्लेष-वर्णन इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। श्लेषवर्णनवाले कवियों ने श्लेष में दुरूहता एवं प्रसाद गुण का अभाव प्रदर्शित किया है और जानबूझकर भी किसी-किसी ने काव्य को क्लिष्ट कर दिया—परन्तु सेनापति ने अपने काव्य में प्रसाद, ओज, माधुर्य इन तीनों गुणों को लाने का सफल प्रयास किया है। परिमार्जित एवं सुव्यवस्थित भाषा का प्रयोग सेनापति की स्वीय सम्पत्ति है।

बिरह हुतासन बरत उर ताके रहै,
बाल मही पर परी भूख न गहति है।
सेवती कुसुम हू तैं कोमल सकल अँग,
सून सेज रत काम केलि कौं करति है॥
प्रानपति हेत गेह अंग न सुधारै जाके,
घरी है बरस तन मैन सरसति है।
देखौ चतुराई सेनापति कबिताई की जु,
भोगिनी की सरि कौं बियोगिनी लहति है॥ १—२५

यहां पर वियोगिनी और भोगिनी दोनों की समता समानात्मक विशेषणों द्वारा की गई है। इन शब्दों में गति है, प्रवाह है और माधुर्य है। ये शब्द अर्थ प्रकाशन में सक्षम

हैं। क्लिष्ट-कल्पना होने पर भी ओजमात्रा दबी ही रही है। माधुर्य की मात्रा किञ्चित् मात्र भी न्यून नहीं होने पाई।

चंचल, चकित, चल अंचल मैं झलकति,
दुरे नव नेह की निसानी प्रान पिय की।
मदन को हेति, ढारै ज्ञान हू के कण रेति,
मोहे मन लेति, कहे देति बात हिय की॥
पनी तिरछौंही, प्रीतिरीति ललचौंही, कुल-
कानि सकुचौही, सेनापति ज्यारी जिय की।
नैंक अरसौंही, प्रेम-रस बरसौंही, चुभी,
चित्त में हँसौंही चितवनि ताही तिय की॥ २ त०३॥

इसमें भाषा की सुन्दरता के कारण भाव की तीव्रता मार्मिक हो गई। तिरछौंही, ललचौंही, सकुचौंही, अरसौंही बरसौंही, हँसौही में शब्दन्यास का क्रम, भाव का क्रम और नृत्यका का लय ताल एक साथ वर्तमान है। अनुप्रास इस छन्द में वेतनभोगी भृत्य की भांति अनुगमन करता प्रतीत होता है। वह काया की छाया की भांति कभी भी साथ नही छोड़ता।

सारँग धुनि सुनावै घन रस बरसावै,
मोर मन हरषावै अति अभिराम है (?)
जीवन अधार बड़ी गरज करनहार,
तपति हरनहार देत मन काम है॥
सीतल सुभग जाकी छाया जग सेनापति,
पावत अधिक तन मन बिसराम है।
संपै संग लीने सनमुख तेरे बरसाऊ,
आयौ घनस्याम सखि मानौं घनस्याम है॥

इस छन्द में श्लेष है; किन्तु शब्द-योजना के कारण अर्थबोध में किसी भांति का व्याघात नहीं हुआ है।

इन सब बातों के देखने से प्रतीत होता है कि सेनापति की भाषा काव्योपयोगी भाषा है। अर्थालंकृति शब्दालंकृति और अर्थगौरव से युक्त है—"भारवेरर्थ-गौरवम्" और "दण्डिनः पद लालित्यम्" की उक्तियां सेनापति की भाषा के लिए भी उपयुक्त हो जाती हैं।

यद्यपि सेनापति की भाषा की परख विभिन्न-दृष्टिकोणों से की जा सकती है; किन्तु इस प्रकरण में हम केवल पद-लालित्य और अर्थगौरव तथा गुणों पर ही विचार करेंगे। वक्रता एवं भाव-भंगी के साथ अर्थ स्पष्टता के लिए लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग भी बहुलता से सेनापति ने किया है—

कछु मनफूली रही, कछू अन-फूली, जैसे,
तन-मन फूलिबे की साध न बुझाति है ॥ २—५३

फूलना अर्थात् विकसित होना पुष्प का धर्म है ; किन्तु तन मन का फूलना किसी विशिष्टार्थ का संकेत करता है। मन कोई पुष्प तो है नहीं, जो फूल जाय इसलिए उसके वाच्यार्थ को छोड़कर हमें उसके लाक्षणिक अर्थ को लेना पड़ता है। प्रसन्नता यहाँ पर लाक्षणिक अर्थ है, इसी भांति "पेंडो तजि बन में कुपेंडे परी ऋषि नारी" यहां पर पेंडा, कुपेंडा शब्द लाक्षणिक अर्थ को लेकर अमर्यादा एवं मर्यादा के द्योतक हो जाते है।

यह लाक्षणिक अर्थ भी वर्णमैत्री पर निर्भर है। इसी से भाषा सौष्ठवशालिनी हो जाती है और तब "सुबोध एवं अबोध सभी ऐसे काव्यानन्द की अनुभूति कर लेते है।"

भाषा में सार्वजनिक विचारधारा की प्रवाहमान-शक्ति निहित रहती है, उस शक्ति का विकास और प्रकाश लक्ष्यार्थ से होता है। व्यङ्ग्यार्थ से उसकी सूक्ष्मानुभूति होती है। जितने ही अमूर्त भावों को भाषा-मूर्त रूप देकर हृदयंगम बनाती है उतनी ही गहराई में वह काव्य-रसिकों को ले जाती है। उससे काव्य को वस्तुस्थिति का साक्षात्कार होता है। 'देवदत्त गधा है' कहने का अभिप्राय उसकी अत्यन्त मन्द-बुद्धि का प्रकाशन ही है। देवदत्त तो व्यक्ति है गधा (पशु) नहीं। पर लाक्षणिक अर्थ से उसकी जड़ता का अर्थ निकलता है। हवा से बात करने का अभिप्राय भी गप्पें हांकना या तीव्रगति से चलना अर्थ निकलता है। ऐसे अर्थ लाक्षणिक अर्थ होते है।

'देह की निकाई सब गेह की मसाल है' २—४०

इसमें भी प्रकाशदात्रीशक्ति अर्थ निकलता है।

तों सौं उरझाई मन गिरै सुरझाई, सकै,
कौन सुरझाई, काहू मरम न पायौ है ॥ २—४४

इसमें भी लाक्षणिक अर्थ—दुखी होना ही है।

"कीनौ पाइलागनौ सो लागि रह्यौ मन मैं"

नमस्कार का मन में लगने का अर्थ स्मृतिजन्य वेदना ही यहा पर लाक्षणिक अर्थ द्वारा लिया जाता है।

इसके पश्चात् व्यङ्ग्यार्थ का क्रम आता है। व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यञ्जनार्थ या ध्वन्यर्थ होता है। ध्वन्यर्थ के सम्बन्ध में आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है—

यत्र शब्दार्थौ तमर्थमुपसर्जनी कृत स्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्य विशेषम् सा ध्वनिः सूरिभिः कथितः ॥

जब मुख्य शब्दार्थ अपने अर्थ को गौण करके किसी अन्य विशिष्टार्थ की अभिव्यञ्जना करता है तब ध्वनि-काव्य कहा जाता है।

यह व्यङ्ग्यार्थ—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥

सहृदय हृदय प्रसिद्ध अलकारों के अतिरिक्त कवि की वाणी में एक विशिष्टार्थ होता है जो अङ्गनाओं के अवयव के अतिरिक्त लावण्य की भाँति पृथक्रूप से प्रतीत होता है। समस्त अवयव सौदर्य की अपेक्षा नेत्रानन्दकारी लावण्य एक विचित्र ही होता है। उसी प्रकार काव्य में यह व्यंग्यार्थ भी अपनी पृथक्सत्ता रखता है, जिसके कारण काव्य में चारुत्वोत्कर्ष आ जाता है। व्यंग्यार्थ या ध्वन्यर्थ को भाषातत्त्ववेत्ताओं ने एवं साहित्य-मनीषियों ने उच्चकोटि का माना है। यह व्यंग्यार्थ प्रतिभा-विशेष का परिचायक होता है। व्यग्यार्थ में एक ही सुप्रयुक्त शब्द कामधुक्-सा होता है। वह चित्त पर भावात्मक गम्भीर प्रभाव डालता है। उसी प्रभाव के कारण रसानुभूति पूर्णरूप से होती है। व्यग्यार्थ का काम अन्तःकरण की रागात्मक प्रतिक्रिया को आन्दोलित करना होता है। यही आन्दोलन-भाव जागृति का माध्यम होता है।

(लक्ष्यार्थ और व्यग्यार्थ का विवेचन)

इस प्रकरण में लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का विवेचन किया जायगा।

कीने नारि नीचे बैठी नारी गुरुजन बीच,
आयौ है सँदेसौ तौहीं रसिक रसाल कौ।
सेनापति देखत ही जानि सब जानि गई,
कह्यौ पर ऊतर उचित ततकाल कौं॥
होइ ज्यौं सरस काम फीकौ है कनकधाम,
देहुँ तोहि कुन्दन जो भाल है विसाल कौं।
बोलि कै सुनारि भावते कौ तेरी बलिहारी,
चौकी मेरी देह तू सँजोग कोई लाल कौं॥ १—७३

नायिका दूती से कहता है कि प्रियतम से कह दे कि जिस प्रकार उत्तम काम बन पड़े (मेरा और उनका सयोग हो सके) वही युक्ति उन्हें करनी चाहिये। क्योकि मेरे सोने का घर उनके विना सूना है। इत्यादि—

गुरुजनों के भय से अपने रहस्य की रक्षा के लिए वाक्-चातुर्य से नायिका दूती को सुनार की स्त्री बनाकर कहती है कि हमारी चौकी कान्तिहीन है तू उसे ठीक बना दे। मैं तुझे उसके लिए कुछ सोना दूंगी। तू अपने प्रिय से कहना कि मेरी चौकी में किसी लाल अथवा किसी नग को जोड़ दे।

यहाँ पर अभिधा से लाल शब्द का अर्थ मणि विशेष ही लिया जाता है। परन्तु इतने से बोलनेवाली नायिका की अभीष्ट-सिद्धि नहीं होती। अतः लाल शब्द का लाक्षणिक अर्थ नायक लिया जाता है। और चौकी का अर्थ शरीर तथा सोने का कमरा खल नायक का सूचक बन जाता है।

लक्षणा द्वारा शब्दार्थ सम्बन्ध के निर्वाह की क्षमता सेनापति ने सुन्दर दिखायी है।

तेरे उर लागिबे कौं लाल तरसत महा,
रूप गुन बांध्यौ तू न ताकौं उमहति है।
यह सुनि बाल जौलौं उतर कौ देइ तौलौं,
आइ परी सास बात कैसे निबहति है॥
रूखी जौ कहति तौ तौ, प्रीति न रहत जौब,
नेह की कहति सास डाटनि दहति है।
सेनापति यातैं चतुराई सौं कहति बलि-
हार करौं ताहि जाहि लाल तू कहति है॥ १—६४

किसी दूती ने कहा कि मेरे पास एक लाल है जो तुम्हारे गले में लगकर शोभा पा सकता है। यह सुनकर नायिका जबतक उत्तर देना चाहती है तब तक सास आ गई। ऐसी परिस्थिति में यदि वह कुछ भी न कहती तो स्नेह-हीनता व्यक्त होती है, कुछ कहती है तो सास का भय है। अतः उसने चतुराई से (लाक्षणिक प्रयोग से) दूती को समझाया कि जिसे तू लाल कह रही है मैं अवश्य लाल का हार बनाकर पहनूंगी, यहाँ पर लाल शब्द में लक्ष्यार्थ के साथ व्यंग्यार्थ भी सम्मिलित है। लाल को गले का हार बनाने का तात्पर्य प्रिय को अपनाना है। और सत्संगानुभूतिजन्य आनन्द की उपलब्धि है।

सेनापति के काव्य में अनेकों ऐसे प्रयोग हैं जिनमें लाक्षणिक प्रयोग है और वास्तव में अलंकारों द्वारा लाक्षणिक प्रयोगों की पुष्टि तो होती ही है। लाक्षणिक वक्रता का उदाहरण—

को है कित आई? सेनापति न बसाई सखी,
कान्ह-कान्ह करि कल कान कीनी आइ कें-
* * * *
सूल करि उनके हमारे सूल कीने हैं।

इन स्थलों पर कान्ह और सूल शब्द—कन्हैया या कोई नहीं तथा सूल से वेदना का लक्ष्यार्थ लिया जाता है।

लक्षणामूलक व्यंजना

लक्षणामूलक व्यंजना से काव्य में चमत्कृति आ जाती है। सेनापति ने अपनी भाषा में प्रयोग भी किये हैं।

तब तैं कन्हाई अब देत हौ दिखाई, रीति,
वहा है सिखाई तोहिं देखे ही सुखारे हैं।
नींद सौं उदास सेनापति देखिबे की आस,
तज के बिलास भये बैरागी बिचारे हैं॥
रूप ललचाने, भली-बुरी कौ न पहिचानैं,
रावरे बियोग बावरे से करि डारे हैं।
लाल प्रान प्यारे सिख दै-दै सब हारे, नैन,
तेरे मतवारे ते न मेरे मत-वारे हैं॥ २—१६

यहाँ पर अचेतन में चेतन वस्तु का आरोप करके नेत्रों को सप्राण समझा गया है और उन्हें विलास त्यागनेवाला तथा उनका पागल हो जाना एवं शिक्षा देने पर भी उनका मार्ग पर न आना इत्यादि बातें कही गयी हैं। मतवारे नयन हैं; किन्तु 'मतवाला, बनाना धर्म कहाँ का है।' आखें मद्यप तो है नहीं जो उन्हें मतवारा कहा जाय। अतः मतवाले शब्द का लाक्षणिक अर्थ मस्ती है। फिर भी इतने से ही वक्ता का अभिप्राय सिद्ध नही होता, अतः व्यंग्यार्थ द्वारा मतवाले शब्द का अर्थ सुध-बुध भूल जाना है। जिस भाँति मद्यप को मर्यादा का ध्यान नहीं रहता उसी भांति इन नयनों को भी मर्यादा का ध्यान नही रहता। ये परस्पर अनुरक्ति की अनुभूति में आत्म-विस्मृति करा देते हैं। और प्रिय व्यक्ति के न देखने पर व्यक्ति को व्याकुल बना देते हैं। द्वितीय मतवारे शब्द का अर्थ निग्रह में न रहना हो जाता है। यह है व्यंग्यार्थ की शक्ति और भाषा में उसका समुचित प्रयोग। इसीलिए तो ध्वनिकार ने कहा है:—

१—तत्त्वार्थ तक पहुँचनेवाली एवं तत्त्वानुभूति करादेनेवाली महाकवियों की वाणी में एक प्रतिभा विशेष का योग होता है, जिसे हम ध्वनि कहते हैं।

२—उसकी उपलब्धि शब्दार्थ शासन-मात्र से नही हो सकती, उसे तो काव्यभावना परिपक्व बुद्धिवाले सहृदय ही जान सकते हैं।

३—जिस भाँति पदार्थ परिस्फुटता के लिए दीप-शिखा की आवश्यकता होती है, उसी भाँति काव्यार्थ के ज्ञान के लिए उचित शब्दार्थों द्वारा ध्वनि (व्यंग्यार्थ) की भी आवश्यकता होती है। इसके द्योतक भाषा में प्रयुक्त विशिष्टशब्द और विशिष्टार्थ ही होते हैं।

१—सरस्वती स्वादुतदर्थवस्तु निष्पन्दमाना महतां कवीनाम्।
आलोक सामान्यमभिव्यनक्ति प्रतिस्फुरन्तं प्रतिभा विशेषम्॥

२—शब्दार्थ शासनज्ञान मात्रेणैव हि बुध्यते।
बुध्यते स हि काव्यार्थ तत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥

३—आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः (ध्वन्या०)
तद्वत्-शब्दे च अर्थे च·····।

(१) तेरियै सपथ ग्रान तोहिं मैं बसत हैं।
(२) कीजै लाल सोई, नीकी जोई जिय जानियै।
(३) कहाँ एती चतुराई पढ़ी आप जदुराई।
(४) वारौं ए चरन जे चरन परसत हौ।

इन स्थलों पर सेनापति ने अपनी व्यंग्यार्थ-द्योतक-प्रतिभा का प्रकाशन किया है। कुछ लोगों का मत है कि सेनापति के काव्य में अभिधेयार्थ की ही प्रधानता है, वे ऐसा कह कर सेनापति के प्रति अन्याय करते हैं। श्लिष्ट छन्दों के दो अर्थ होते हैं पर दोनों अभिधेय ही तो नहीं होते। जबतक उससे लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ नहीं निकलता, तबतक श्लेष की सार्थकता ही नहीं हो सकती।

वस्तुध्वनि निषेध में विधि

यदि तैं चतुराई, चतुराई सौं कहति मेरो,
भूलि के भवन भरतार जिनि रहियै॥

यह उलाहना है। इसमें वस्तुध्वनि है। केवल वाच्यार्थ से यहाँ पर झुँझलाहट की भावना न आ सकती, अब घर से बाहर न जाना यह ध्वनि बाह्य परिस्थिति से निकलती है। हमारे घर में रहना तो तुम्हारे लिए कठिन हो जाता है, तो उसी के घर जाकर रह लो, 'जाओ तुम्हें रोकता कौन है', अपने घर पर तो भूल के भी न रहना चाहिए, हमारा रोकने का अधिकार भी तो नहीं रहा। इतना कहने का तात्पर्य यही है कि तुम अब हमें छोड़कर मत जाओ, हम तो तुम्हारे लिए व्यग्र है, और तुम्हें हमारा ध्यान भी नहीं ?

विधि में निषेध

अब तौ जरूर कीनौ चाहियै तिहारौ कह्यौ।
आए तैं कहौगे ए गुमान परिजाति हैं॥ २—४१

यहाँ पर यह कहा जा रहा है कि—अवश्य अब तो क्यों न करेंगे तुम्हारा कहना, ध्यान तो तुम्हें किसी और का ही है। अच्छा है हम तो तुम जो कहोगे उसे क्यों न मानेंगे। कहीं तुम यह न समझो कि हम मान कर रही हैं। इससे यह ध्वनि निकलती है कि तुम जिसे अपना सर्वस्व मानते हो तुम्हारे अनुशासन में रहेगी तो वही रहेगी, हम क्यों रहें तुम हमारे हो ही क्या ?

इससे विदित होता है कि सेनापति अभिधेयार्थ को व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति का साधन ही समझते थे, प्रधान नहीं।

करन छुवत बीच ह्वै कै जात कुण्डल के,
रंग मैं करै कलोल काम के सुभट से।
चंचल समेत भुव अंबर में खेलत हैं,
देखत ही बांधै डीठि रहैं चटमट से॥
उन्नत सगुन सुद्ध बंस देखि लागैं धाइ,
केलि कला करै चितै मोहत निपट से।
सेनापति प्रभु वसनी के बस कीने प्यारी,
नाचत ललन आगे नैना तेरे नट से॥ १—२३

यहां पर अभिधेयार्थ (वाच्यार्थ) से वसनी का अर्थ नेत्रोपाङ्ग और नट का अर्थ साधारणरूप से नाचना तथा तमाशा दिखानेवाला लिया जायगा तो, न कवि का तात्पर्य ज्ञात हो सकेगा और न काव्य-तत्त्वानुभूति-जन्य आनन्द ही प्राप्त हो सकेगा। ऐसे स्थलों पर जब तक लक्षणाशक्ति और व्यञ्जनाशक्ति से काम न लिया जायगा तब तक काव्य के मार्मिक अर्थ का बोध नहीं हो सकता। इसी छन्द का लाक्षणिक और व्यङ्ग्यार्थ भी देखिए।

तुम्हारे नयन (वसनी) मद के वशीभूत हैं। उनकी मादकता अन्य दर्शकों को उन्मत्त सा बना देती है। नयन नट की भाँति नाचते हैं; क्योंकि नट के नृत्य में हाव-भाव चेष्टाविशेष की अभिव्यक्ति रहती है। इन नयनों में तीक्ष्ण-कटाक्ष करने की शक्ति है। अतः यह कहना सार्थक नहीं कि सेनापति के काव्य में लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की मात्रा अति न्यून है।

१—मान उड़िजात ज्यों कपूर उड़िजात है।
२—तेई बिन कान्ह भई सागर वियोग को।
३—हार के सरोज सूखि होत है सुहार से।
४—तिल है कपोल को अमोल बिलसत है।
५—लौंग सी लुगाई करि बानी छल गाई ताही।

इन स्थलों पर लक्ष्यार्थ के साथ व्यङ्ग्यार्थ भी विद्यमान है।

इसके अतिरिक्त सेनापति के काव्य की भाषा में वस्तु, रस और अलंकार ध्वनि के उदाहरणों का बाहुल्य है। सेनापति ने रसवर्णन के भी उदाहरण दिये हैं, उनकी भाषा की योजना इस स्पष्टीकरण के उपयुक्त है। रस सदैव व्यङ्ग्य होता है, अभिधेय नहीं। "रसोहि व्यङ्ग्यो नाभिधेयः" अभिनव गुप्त ने भी रस को व्यङ्ग्य ही माना है, फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि सेनापति की भाषा में व्यंग्यार्थ नहीं है।

"जेती वन वेली तिनकी न कीजै दौरि"

इसमें नायक कृष्ण पर ताना कसा जा रहा है कि, इधर उधर (अन्य नायिकाओं के पीछे) भटकना छोड़ दो, यह स्वभाव ठीक नहीं।

ऐसे ही कई स्थलों पर विचार करने से हम इसी तत्त्व पर पहुँचते हैं कि सेनापति की भाषा काव्यार्थों को व्यक्त करने में और सूक्ष्मार्थों की अभिव्यक्ति में सक्षम है।

यस्मिन् रसो वा भावो वा तात्पर्येण प्रकाश्यते·····।

जिस काव्य में रस और भाव तात्पर्यार्थ के द्वारा प्रकाशित किये जाते हैं, वह काव्य और उसकी भाषा दोनों अपने विषय में पूर्ण हैं। सेनापति की भाषा की परख के लिए—भाषा-शक्तियों का पर्याप्त ज्ञान परमावश्यक है, क्योंकि सेनापति ने स्वयं कहा है कि—

"सरस अनूप रस रूप यामें धुनि है।"

कारक प्रयोग

कारक का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में क्रिया से होता है। व्रजभाषा में ओ, ने, कौं, हि सौं, तें, ते के, की, में, मई, माहि, पै आदि विभक्तियाँ संज्ञाओं से सम्बद्ध होकर विभिन्न कारकों का रूप प्रकट करती है। विभक्तियां व्रजभाषा में और हिन्दी भाषा में समान रूप से लगती हैं। खड़ी बोली में "राम ने दिया" और व्रजभाषा में "राम ने दियो है" समान ही है। कर्त्ता के बहुवचन में ना, या, नि, अन्त में जोड़ दिया जाता है। कभी-कभी यह प्रयोग वैकल्पिक भी होता है। पै का प्रयोग भी कर्ता में होता है।

"मो पै न जाती सही विपदा।"

सेनापति की भाषा में प्रचलित अप्रचलित सभी रूप पाए जाते हैं। सेनापति ने—ने और पै के स्थान पर सों का प्रयोग प्रथमा विभक्ति के लिए भी किया है। कासो, वासों, मोसों, इत्यादि कहीं-कहीं हिं का प्रयोग भी कर्ताकारक के लिए किया गया है। विधातहिं, रामैहिं। व्रजभाषा ने कर्ताकारक में इन सभी विभक्तियों को अपनाया है। सेनापति ने भी प्रचलित प्रयोग किया। यातें, मोतें का प्रयोग भी कर्ताकारक में किया गया है।

भाववाचक सज्ञा को द्योतित करने के लिए 'ओ' रखने की प्रथा भी सेनापति ने अपनाई है। खड़ी बोली का प्रयोग भी उसमें है। करना, जाना, होना इत्यादि।

कर्म कारक—खड़ी बोली में कर्म कारक का विभक्ति-चिन्ह 'को' है। परन्तु व्रज में कों, कौं हिं सो यह चिन्ह काम में लाए जाते हैं।

सेनापति पियकों राखें सावधान धारें, हरिकौ सुभाई कहैं,

'सखिसौ हरि नैनी' ये सेनापति के प्रयोग हैं। कभी-कभी भाषा की गति के प्रवाह के लिए विभक्तिहीन प्रयोग भी सेनापति ने किए हैं—

'आपने वसन देत जोरिबे की रति लेत' इत्यादि।

करण—सेनापति ने करण कारक के ने, से के लिए सौं का ही प्रयोग अधिक किया है। 'सेनापति यातें चतुराई सौं कहति बलि'—

"सेनापति वीर सौं लरत हाथ जोरत हैं" कभी-कभी यह सौं भ्रान्तिकारक भी हो जाता है। क्योंकि सौं का प्रयोग उपमा के द्योतन के लिए भी किया जाता है। अतः ऐसे स्थलों पर प्रकरणानुकूल अर्थ लेना पड़ता है। (झीनौंपटु गात चाँदनी सौ अवदात)

सम्प्रदान—इसका विभक्ति चिह्न 'को, 'कौं, है।

दोष तोहिंकौं सहस देहुँ, चढ़ाइबे कौं महाबाहु।

प्रात उठि आइबे कौं, तेलहिं लगाइबे कौ, मलि-मलि न्हाइबे कौं गरम हमाम है।

'ऐसे प्रभु लोगन कौं होत बिसराम है' 'तेरे उर लागिबे कौं लाल तरसत है'

सम्प्रदान का प्रयोग भी किसी-किसी छन्द में विभक्ति रहित किया गया है। सम्प्रदान में लगि का प्रयोग भी किया गया है। 'शेखतन प्राण लागि।'

अपादान—खड़ी बोली के स्थान पर व्रजभाषा में ते या तें पृथक् होने में प्रयुक्त होते हैं।

'तब तें है छीन छवि', 'तब तें कन्हाई अब देत हौ दिखाई।'

'घर ते निकसि करि', इत्यादि। 'चले तें तिहारे पिय बाढ़्यौ है वियोग जिय।'

सेनापति ने अपादान के लिए सों का प्रयोग भी किया है।

अधिकरण—सेनापति की भाषा में अधिकरण के लिए कहीं-कही ही का प्रयोग हुआ है, और कहीं-कहीं विभक्तिहीन प्रयोग भी हुआ है।

सम्बन्ध को द्योतित करने के लिए सेनापति ने अपनी भाषा में कौ का प्रयोग किया है। 'सुख कौं निधान मिलै त्रिविध जगत प्रान।' 'बहुधा माधव कौ भेद छांड़ि मन कौं।'

'कर, का प्रयोग भी 'के, लिए हुआ है।

कहा प्रान आधार "कर।"

'की, का प्रयोग—'हिमकी हिमाचल तें चमू उतरति है।'

सर्वनाम

सर्वनामों का प्रयोग सेनापति ने मान्य-दृष्टि से किया है।

संख्यावाची प्रयोग

संख्यावाची विशेषणों का प्रयोग भी यत्रतत्र पाया जाता है। एकई, एकै इत्यादि।

"एकै सरदार हथियार समुदाय कौ"

दो के लिए संस्कृत में द्वि का प्रयोग होता है। सेनापति ने अपनी भाषा में द्वै का प्रयोग किया है। संस्कृत के 'त्रीणि', प्राकृत के 'तिराण' तथा अपभ्रंश के 'तिर्राण' से तीन की उत्पत्ति मानी जाती है। सेनापति ने त्रीणि के समकक्ष तीनि का प्रयोग किया है। "तीनि

लोक नाइक हैं।" किन्तु कहीं-कहीं तीन का प्रयोग भी हुआ है। 'तीन कोटि तीरथ में याकै सरवरि को।' तीन का यह प्रयोग खड़ी बोली के प्रभाव का है।

इसी भांति अपभ्रंश के चारि का प्रयोग व्रजभाषा में भी यथावत् किया गया—सेनापति ने चतुर्थ का प्रयोग भी चारि के लिए किया।

पांच के लिए पांचौ, पांचई का प्रयोग सेनापति ने किया है।

'पांचौ सुरतरु कौ जो एकै सुर तरु है' 'मन दिकपाल कीनो पांचई पलक में।'

षट् के लिए छ का प्रयोग किया गया है।

संवत् सत्रह सै छ में, सेइ सियापति पाई।

सप्त के लिए सात और सपत का प्रयोग—"दीप सातहू" और "सपत पताल" इत्यादि।

आठ के लिए प्राकृत में अट्ठ और व्रजभाषा में आठहू का हुआ है। सेनापति ने कहीं-कहीं आठ का प्रयोग भी किया है।

"आठहू पहर आस रावरे में" "जाते आठसिद्धि नवनिद्धि रिद्धि तू लहै।"

नौ के लिए प्राकृत में नअ और नउ प्रयोग होता है। हिन्दी खड़ी बोली में नौ—व्रज में नौ, पर सेनापति ने संस्कृत के नव शब्द को अधिक सुन्दर समझकर प्रयोग किया।

"नवनिद्धि" और "जानी सनमानी दीप सातखण्ड नव हूँ।"

दश—का प्रयोग दस के रूप में किया गया है।

"दससीस बरबंड तव"

इसी भाति अन्य संख्यावाची शब्दों का प्रयोग भी सेनापति ने अपनी भाषा में किया है।

अव्यय

व्रजभाषा में अव्यय तद्रूप और तत्समरूप न लेकर तद्भवरूप में लिए गये हैं। यथा प्रातः का प्रात, अरे का एरे, अहो का ओहो। सेनापति ने भाषा माधुर्य के लिए एहो का प्रयोग अधिक किया है। साथ ही 'रे' का प्रयोग भी किया है।

"एरे मेरे मन खोसे वासर घनेरे" तथा "करन सदेह रे"

किधौं का प्रयोग—"भारत की अनी किधौं बनी वर नारी हैं"

आगम विचारि रामबान कौ अगाऊ किधौं।

लौं का प्रयोग उपमा के लिए—यह सुनि बात जौंलौं उतर कौ देत तौ लौं।

अपि के लिए कौ का प्रयोग—पारिजात हू कौ जीत लेति जोर करिके।

"हार हूँ कौ आड़हू भुलावै"

अपि के लिए हू का प्रयोग—कर गहि राखि सो न क्यों हू ठहरति है। जितै, तितै, कितै, तितिकै अव्यय इतः, ततः कति, तावत्कः इनके लिए प्रयुक्त हुए हैं।

'तेतिकै कलान रजनी की छबि कीनी है ।'

'मेरे जान जेतिक सौं'—

एकत्र और अन्यत्र अव्ययों का प्रयोग एकत और अनत के रूप में सेनापति ने किया है । सबहीं, जबहिं, तबहिं, सबै इन अव्ययों का प्रयोग भी सेनापति ने किया है ।

विदेशी शब्द

सेनापति ने अनेक विदेशी अरबी और फारसी के शब्दो का प्रयोग तत्कालीन प्रवाह के कारण किया है । साज, इतबार, महल, गरज, गरूर, जवाहिर, पाइपोस, समादान, ज्यारी, जिरह, गरद, हमाम, सुथरी, मुहर, यारी, रुख, रजाई, चौकस, लिबास, दुलहिन, गोसे इत्यादि ।

'यह वर नारी सुबरन की मुहर है ।'
'रहै परि यारी करि संगर मैं दामिनी सी ।'
'औरै भयौ रुख तातें कैसे सखी ज्यारी होति ।'
'गोसे न मिलत कैसे तीर कौं संजोग होत ।'
'प्यारी कोठरी है धन जोबन जवाहिर की ।'
'पैयत रजाई नैक आलिंगन कीने तैं ।'
'सुथरी अधिक देह कुन्दन नवीने तैं ।'
'राखैं मुख ऊपर हू जे न इतबार हैं ।'
'तामैं पूरौ चौकस समान मै बतायौ है ।'
'देखि कै लिबास नीची बन की नारी होति ।'
'बनी दुलहिन बनो दूलह बसंत है ।'
'प्यारी तू तौ गेह की निदान समादान है ।'
'गगन गरद धूँधि दसौ दिसा रही रूँधि ।'
'राज भोग काज साज यौ सम्हारियत है ।'
'गरज गरूर सोइ बाजत नगारौ है ।'
'मलि-मलि न्हाइबै को गरम हमाम है ।'
'बिनही जिरह हथियार बिन ताके अब ।'

देश्य और देशी शब्दों का प्रयोग भी सेनापति ने अपनी भाषा में किया है—चौपड़, वनक, चंचारी, पैंडा, छछारे, बबूला, भभूखा, झकोरा, खरक, बिथुराई इत्यादि ।

कुछ लोग ऐसे प्रयोगों को अनुकरणात्मक भी मानते हैं ।

कवित्तरत्नाकर में अलंकार-प्रयोग

अलंकार काव्य की शोभा को बढ़ानेवाले उसके बाह्य धर्म हैं, इस विषय में आचार्य मम्मट ने लिखा है "अनलंकृतिः पुनः क्वापि" काव्य को सालंकृत तो होना ही चाहिये, किन्तु कहीं-कहीं और कभी-कभी काव्य में अलंकार न भी हो तो कोई हानि भी नहीं। जिस भांति कोई सुन्दर आकृति का व्यक्ति अपने आपको आभूषणों से सज्जित कर ले तो उसका व्यक्तित्व कुछ काल के लिए प्रभावोत्पादक हो जाता है। उसी भांति अलंकारों से काव्य का उत्कर्ष बढ़ जाता है। यह एक सामर्थ्यशाली साधन है जिसका सहारा लिए विना कवि का काम चल नहीं सकता। किन्तु आदर्श-अलंकार योजना वही होती है जो समुचित अंग रूप से काव्य में आवे, अंगी बनकर नहीं, जिससे भाव-चमत्कार पूर्ण हो किन्तु उसका विनाश न हो जाय।

रीति-कालीन हिन्दी-साहित्य में सेनापति की अलंकार-योजना अत्युत्तम मानी जाती है। उनका एक ग्रंथ कवित्तरत्नाकर के नाम से उपलब्ध है उसकी अलंकार विदग्धता को देखकर विदित होता है कि सेनापति अलंकार-शास्त्री थे। और संस्कृत-साहित्य के लाक्षणिक-ग्रंथों का उन्होंने साङ्ग-अध्ययन कर रखा है, और संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे। अपनी इस विद्वत्ता का उपयोग उन्होंने अपने कवित्तों में किया। केशव, बिहारी, भूषण, देव, घनानन्द, पद्माकर इत्यादि कवियों पर भी संस्कृत के रीतिग्रथों का प्रभाव था; किन्तु वे संस्कृत ग्रंथों की उस गहराई तक न पहुँच सके, तथा निपुणता के साथ उस चमत्कृति को न ला सके जिसे सेनापति ला सके हैं।

जिस भाँति रत्नाकर के नाम की सार्थकता उसके आभ्यन्तर स्थित विविध अलंकारों पर है उसी भांति सेनापति के कवित्तरत्नाकर की विशेषता भी आलंकारिक चमत्कृति पर निर्भर है।

हिन्दी-साहित्य के अनेक आचार्य और कवि संस्कृत-साहित्य की अलंकार परम्परा की पुनरावृत्ति करके ही रह गये। किन्तु उनमें कुछ विशेषता लाने की सफल चेष्टा उन्होंने नहीं की। यदि किसी ने चेष्टा की भी, तो उसकी कृति से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि वह संस्कृत की छाया है। कारण कि इन कवियों ने विषय-विकास तथा स्पष्टता की ओर ध्यान नहीं दिया। संकुचित वातावरण से ऊपर उठने की क्षमता केवल सेनापति ने ही दिखाई है। उनके काव्य में नख-शिख-वर्णन की संयत-शक्ति, नायिका-वर्णन की शिष्ट-मर्यादा, प्रकृति-वर्णन का मनोरम-चित्रण और अलंकारों की सुव्यवस्थित सार्थकता देखने को मिलती है। सेनापति ने जहाँ रस परिपाक पर दृष्टि रखी है वहां अलंकारों पर भी उन्होंने वही गम्भीर और उदात्त दृष्टि रखी है। कहीं-कहीं तो अलंकार की प्रधानता के कारण १—रस अङ्ग और २—अलंकार अङ्गी बन गये हैं।

शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का सफल प्रयोग सेनापति ने अपने ग्रंथ में किया है। कवित्तरत्नाकर की पहली तरंग का श्लेषवर्णन सेनापति के श्लेष प्रेम का प्रतीक है। अपने तथा अपनी कविता के विषय में उन्होंने कहा है कि–'सेवक सियापति कौं सेनापति सोई, जाकी द्वै अरथ कबिताई निरबाह की', प्रायः प्रत्येक श्लिष्ट छन्द में सामर्थ्य-निर्वाह की पूर्ति के लिए अर्थ समझने की कुञ्जी भी सेनापति ने उसी में रख दी है। उपमान और उपमेय का व्यावहारिक संयोग-बाहुल्य सेनापति के कवित्तों में है।

शब्दालंकार

शब्दालंकार में शब्द ही चमत्कार-जन्य होता है। शब्दालंकार के अन्तर्गत–अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति शब्द-श्लेष इत्यादि आते हैं।

शब्द श्लेष—श्लिष्ट-शब्दों से अनेक अर्थों का अभिधान किये जाने को श्लेष कहते हैं। यह सभंग और अभंग दो रूप से होता है। जिस पूरे शब्द के दो अर्थ होते हैं, वह अभंग शब्द-श्लेष कहा जाता है। और जिस पूरे शब्द का अर्थ और होता है; किन्तु शब्द के (भंग) खण्ड करने पर दूसरा अर्थ होता है, सभंग श्लिष्ट शब्द श्लेष कहा जाता है।

नाहीं-नाहीं करैं थोरी मांगे सब दैन कहैं,
मंगन कौ देखि पट देत बार-बार हैं।
जिनकौं मिलत भली प्रापति बी घटी होति,
सदा सब जन मन भाए निरधार हैं॥
भोगी ह्वै रहत बिलसत अवनी के मध्य,
कन-कन जारैं दान पाठ परिवार हैं।
सेनापति बचन की रचना बिचारौ जामैं,
दाता अरु सूम दोऊ कीने इकसार हैं॥

यहां दाता और सूम दोनों का वर्णन कवि को अभीष्ट है, सब जन मन भाए और कन-कन को तोड़कर ही इसका अर्थ निकाला जाता है। सब दैन कहें और सबदै न कहें। कन-कन जोरत और कनक न जोरत, 'दान पाठ परिवार है' और दान पाठ परि वारहैं। इत्यादि।

अभंग श्लेषः—सारंग धुनि सुनावै घन रस बरसावै,
मोर मन हरषावै अति-अति अभिराम है (?)
जीवन अधार बड़ी गरज करनहार,
तपति हरनहार देत मन काम है॥

सीतल सुभग जाकी छाया जग सेनापति,
पावत अधिक तन मन बिसराम है।
संपै संग लीने सनमुख तेरे बरसाऊ,
आयौ घनस्याम सखि मानौं घन स्याम है ॥ १-१२

इस स्थल पर अभंग-शब्दश्लेष के द्वारा घनश्याम को और श्याम घन को समान रूप से देखा गया है। कार्य कारण भी एकसा प्रतिपादित किया गया है। फल भी दोनों का एकसा ही दिखाया गया है। जीवन अधार और बड़ी गरज-करनहार शब्द बड़े महत्त्व के हैं, बादल जीवन का आधार है और बड़ी गर्जना भी करता है। घनस्याम भी गोपियों के प्राण के जीवन के आधार हैं। बड़े स्वार्थी वृत्ति के हैं। अर्थ की उत्तमता का महत्त्व शब्दश्लेष को ही है। यहाँ पर यदि गरज करनहार शब्द हटाकर ध्वनि या नाद या शब्द रख दिया जाय तो चमत्कार समाप्त हो जाता है। इस छन्द में श्लेष और उत्प्रेक्षा का सकर भी देखा जाता है। सेनापति के छन्दों में विविध अलंकार परस्पर होड़ लगाकर एक दूसरे से आगे बढ़ते हुए से जान पड़ते हैं।

अनुप्रास-अनुप्राणित श्लेष :-

पारथ की रानी, सभा बीच बिललानी,
दुसासन अभिमानी दौरि गही केस पास मै।
* * * *
बैरिन के बास मैं, बिपत्ति के निवास मैं,
जगन्निवास वा समैं दिखाई प्रीति बास मैं।

इसी भांति अन्य छन्द भी हैं।

अनुप्रास

करत है प्यारी भेष धारि के उज्यारी ही कौ,
घाम बार-बार बैरी बैर सुमिरत है।
और—जानियै न जात, बात कहत बिलात दिन,
छिन सौं न तातैं तन कौ विसेखियत है ॥

यहाँ पर तकार का अनुप्रास है।

दानी दिन-दिन दादनी दाना-दाना दीन।
दानौ दन्दन दादि दै दाना-दाना दीन ॥

*—अमल कमल, जहाँ सीतल सलिल लागी—

यमक

यह भी सभंग और अभंग दो रूप में होता है।

वे तौ एक रति जोग हम ए करति जोग।
तथा—कुबरी यों कलपै हैं हम यहाँ कल पैं हैं॥
सभंग—याई मघ वाके धरि पाइ मघवा के धाम,
तथा—भीजैं जाके वारिपद, पावै दान वारि पद।
*—देखैं सुरसिंधु-रन चढ़ैं सुर-सिंधुरन,
अभंग—*—लै कै करतार-'करतार' गुन गाइ हौं।
*—नूतन जोबनारी मिली हौ जो बनवारी,
सेनापति बनवारी मन मैं विचारियै।
तेरे नीके बसुधा है वा कै तौ नव सुधा है,
तू तौ छत्रपति सो न-छत्रपति मानियै। इत्यादि—

यमक के कारण यहाँ पर छत्रपति और न-छत्रपति तथा नछत्रपति कई अर्थ निकलते हैं।

वक्रोक्ति

कहियौ पथिक परदेसी सौं कि धन पाछै,
ह्वै गई सिसिर कछू सुधि है वसन्त की।
तथा—बड़े पै त्रिभंगी रस हू मैं जे न सूधे होत,
सहज की स्यामताई सुन्दर लहत हैं॥
सेनापति सिर धरि ऐसे लाज छाँड़ि तातैं,
रूखे गुरुजन बैन रूखेई कहत हैं॥ १—७४

* * * *

१ अर्थालंकार

अलंकरणमर्थानामर्थालंकार इष्यते।
तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम्॥

(अग्नि पुराण)

आचार्य उद्भट ने सभंग को शब्दश्लेष और अभंगश्लेष को अर्थश्लेष माना है। आचार्य सय्यक ने भी २—'जतुकाष्ठ' न्याय के अनुसार सभंगश्लेष और अभंगश्लेष को

१—अर्थों को अलंकृत करनेवाले अर्थालंकार कहे जाते हैं। अर्थालंकार के विना शब्दार्थ मनोहर नहीं हो सकता—

२—लाख लकड़ी से भिन्न होतीहुई भी उसी पर चिपकी रहती है।

शब्दालंकार और अर्थालंकार माना है। किन्तु आचार्य मम्मट भट्ट और विश्वनाथ का मत है कि, अभंगश्लेष या सभंगश्लेष जहाँ शब्दाश्रित होगा वहाँ शब्दश्लेष माना जाना चाहिए, और जहाँ अर्थाश्रित हो, वहाँ अर्थश्लेष। (का० क० द्रुम ३४ पृ०)।

अर्थश्लेष

करन छुवत बीच ह्वै जात कुण्डल के,
रंग मैं करै कलोल काम के सुभट से।
चंचल समेत भुव अंबर मैं खेलत है,
देखत ही बांधै डीठि रहै चटमट से॥
उन्नत सगुन सुद्र बंस दाबि लागैं धाइ,
केलि कला करैं चितै मोहत निपट से।
सेनापति प्रभु बसनी के बस कीने प्यारी,
नाचत ललन आगे नैना तेरे नट से॥

तथा—सब अंग थोरे-थोरे बहुधा रतन जारैं,
राखैं मुख ऊपर हू जे न इतबार हैं।
नान्हे बोल बोलैं समै देखत न पट खोलैं,
राज धन राखिबे को पाए अवतार हैं॥
जनम तैं कौहू जे न भरम तैं माँगे जात,
सत्तहीन आगे सदा राखत नकार हैं।

* * * *

१ उपमा

उपमा का विषय अतिव्यापक है, प्रायः सभी अलंकारों की उत्थापिका उपमा ही है और उसके स्वयं के भेद भी बहुत हैं। यहां पर भेद-प्रभेदों का वर्णन न करके केवल २ श्रौती और ३ आर्थी भेद के उदाहरण ही दिये जाएँगे।

* * * *

---

१ अलङ्कार शिरोदत्तं सर्वस्वं काव्यसम्पदम्।
उपमा कविवंशस्य मातेवेति मतिर्मम॥ राजशेखर

२ इव, यथा, वा, सी, से, सो, लौं, जिमि इत्यादि सम्बन्धवाचक शब्दों के योग में श्रौती उपमा होता है।

३ तुल्य, तूल, सम, समान, सरिस, सदृश्य के योग में आर्थी उपमा होती है।

करता अनूप कीनी, रानी मैनभूप की सी,

* * * *

श्रौती—गेह कौं सिंगार सी सुरत सुख सार सी, सो—

'सेनापति प्रीतम की सुनत सुधा-सी बानी'

* * * *

'छवि की सी छटा स्याम घन की सी घटा', २—४८

'राम की कहानी गंगा धार सी बखानी है।' १—५६

आर्थी—हिय हरिलेत हैं, निकाई के निकेत, हँसि,

देत हैं सहेत निरखत करि सैन हैं।

सेनापति हरिनी के दृगन तैं नीके राजैं,

दरद हैं हरत करत चित चैन हैं॥

चाहत न अंजन रसिक जन रंजन हैं,

खंजन सरिस रसराग रीति ऐन हैं।

* * * *

'बिसद बरन जाकी सुधा सम बानी है।'

'रति की समान सेनापति की परमप्यारी'

'सुधा के समान भोग-मुकुतिनिधान, महा।

श्रौती और आर्थी दोनों—

पून्यौं सी तिहारी लाल प्यारी मैं निहारी बाल,

तारे सम मोती के सिंगार रही साजि कै

और भी अनेक स्थानों पर अत्युत्तम उपमा के प्रयोग सेनापति ने दिए हैं।

करि डारी छाती घोर घाइन सौं राती-राती,

मोहिं धौं बतावौ कौन भाँति छूटि आए हौ।

रूपक—

बिनही जिरह हथियार बिन ताके अब,

भूलि मति जाहु सेनापति समझाए हौ।

पौढ़ौ बलि सेज, करौं औषद की रेज बेगि,
मैं तुम जियत पुरबुले पुन्य पाए हौ।
कीने कौने हाल ! वह बाघिनि है बाल ! ताहि,
कोसति हौं लाल, जिन फारि-फारि खाए हौ ॥

इस छन्द में (खण्डिता नायिका इर्ष्यायुक्त होकर सहानुभूति-सूचक शब्दों से नायक के प्रति अपना स्नेह व्यक्त कर रही है। नायक के वक्षःस्थल पर अन्य नायिकाकृत नख-क्षत देखकर उसे इर्ष्या उत्पन्न होती है। वह कहती है कि मैंने पूर्वजन्म में बड़े भारी पुण्य किए थे कि तुम उस बाघिन के पञ्जे से छूट आए हो। उसने तुम्हारी कैसी दशा कर डाली है ? तुम्हारी छाती पर अनेकों घाव हो गए हैं। तुम्हारी छाती फाड़कर वह रक्त पीना चाहती थी। तुम यह तो बताओ कि उसके जाल से कैसे छूट आए हो। (सावधान !) अब भूलकर भी उधर न जाना) बाघिन और परकीया नायिका की समता अभेदरूपक से की गई है, और रूपक का आभास ध्वन्यर्थ से मिलता है।

बदन सरोरुह के संग ही जनम जाकौ,
अंजन सुरंग समता न दरसत है।
महा रूखे मुनिहू कौ हियौ चिकनाइ जात,
सेनापति जाहि जब नैंक परसत है ॥
रूपहिं बढ़ावै सब रसिकन भावै मीठौ,
नेह उपजावै पै न आप बिनसत है।
आली बनमाली मन फूल मैं बसायौ तेरे,
तिल है कपोल सो अमोल बिलसत है ॥

इसमें 'बदन-सरोरुह में' रूपक है। प्रतीप और विरोधाभास अलंकार भी इसमें है। प्रतीप उपमान को उपमेय कल्पित करके किया गया है।

'महारूखे मुनिहू कौ हियौ चिकनाय जात'—यहा पर जो रूखा है वह चिकना कैसे हो सकता है ? में विरोध है।

'नेह उपजावै पै न आप विनसत है' में भी विरोध है। किन्तु स्निग्ध हो जाना और सरसता व्यक्त करना अर्थ लेने से विरोध का परिहार हो जाता है।

अनन्वय

इस अलंकार में एक ही वस्तु को उपमान और उपमेयभाव से माना जाता है।

* * * *

तोसी एक तुही अरु तोसे तेरे प्रतिबिम्ब। २—५६

सन्देह अलंकार

इसमें वस्तुस्थिति को देखकर किसी निर्णय पर सहसा न पहुँचना, संदेह हो उठता है। एसा है या वैसा है ?

पच्छन कौं धरे, किधौं सिखर सुमेरु के हैं,
बरसि सिलान क्रुद्ध जुद्धहिं करत हैं।
किधौं मारतंड के द्वै मंडल अडंबर सौं,
अंबर मैं किरन की छटा बरसत हैं॥
मूरति कौ धरे सेनापति द्वै धनुर-बेद,
तेज रूप धारी किधौं अस्त्रनि अरत हैं।
हेम-रथ बैठे, महारथी हेम बानन सौं,
गगन मै दोऊ राम-रावन लरत हैं॥

यहाँ पर सन्देह अलकार है। 'पच्छन को धरे·····राम-रावन लरत हे' यह निश्चयान्त सन्देह है। राम और रावण के युद्ध को देखकर कवि को यह सन्देह होता है कि दोनों सुमेरु-पर्वत के शृग तो नहीं हैं ? अथवा दो सूर्य खंड तो नही है ? अथवा ये दो धनुर्वेद तो नही हैं। अन्त में कवि कह देता है कि गगन में राम और रावण लड़ रहे हे। ऐसे सदेह को अग्निपुराण में निश्चयोपमा या निर्णयोपमा भी कहा गया है।

अथवा—

सोहैं देह पाइ किधौ चारि हैं उपाइ, किधौं,
चतुरंग संपति के अंग निरधार हैं।
किधौं ए पुरुष-रूप चारि पुरुषारथ हैं,
किधौं बेद चारि धरे मूरति उदार हैं॥
सब गुण आगर, उजागर सरूप धरे,
सेनापति किधौं चारि सागर ससार हैं।
दीपति बिसाल, किधौं चारि दिगपाल किधौं,
चारौ महाराज दसरथ के कुमार हैं॥ ५—८

* * * *

'भारत की अनी किधौ बनी वर नारी हैं।' १—३५

भ्रान्तिमान

सादृश्य द्वारा एक वस्तु को दूसरी वस्तु समझ जाना, यथा रज्जु में सर्प की भ्रान्ति।

* * * *

घन सौ गगन छयौ, तिमिर सघन भयौ,
देखि न परत मानौं रबि गयौ खोइ कै।
चारि मास भरि स्याम निसा के भरम करि,
मेरे जान याही तैं रहत हरि सोइ कै॥ ३—३१

यहाँ पर उत्प्रेक्षा अनुप्राणित भ्रान्ति है। चारमास तक विष्णु का क्षीर-सागर-शयन निशा की भ्रान्ति से होता है।

'घामहू में चाँदनी की द्युति दमकति है।'
तथा—'चंद के भरम होत मोद है कुमोदिनी कौं।'
'ससि संक पकजिनी फूलि न सकति है।'
रजनी की झांई बासर (?) मे झमकति है॥ ३—५०

विभावना

विभावना अलकार का उदाहरण भी सेनापति के काव्य में है; किन्तु पूर्णविभावना की योजना नही है। सम्पूर्ण कारण न होने पर भी कार्य की उत्पत्ति का होना यह भी एक प्रकार की विभावना है। यथा—

सहज बिलास हास हिय के हुलास तजि,
दुख के निवास प्रेम-पास परियत है।
भूलि जात धाम, सोच बाढ़त है आठौ जाम,
बिना काम तरसि तरसि मरियत है॥
मिलन न पैयै, बिन मिलै अकुलैयै अति,
सेनापति ऐसे कैसे दिन भरियत है।
कहा कहौ तोसौं मन, बात सुनि मोसौं,
जाकौ देखिबौ कठिन तासौं नेह करियत है॥ २—३८

यहाँ पर दिखाया गया है कि जिसका देखना भी नही हो सकता, उसी से चित्त प्रेम करना चाहता है। परन्तु यह तृतीय-कोटि की विभावना है। क्योकि प्रतिबन्ध होने पर भी कार्य की उत्पत्ति कही गई है। 'जाकौ देखिबौ कठिन' प्रतिबन्ध है और 'नेह करियत है' की उत्पत्ति का कथन किया गया है। यह सेनापति की सूक्ष्म सूझ है।

विशेषोक्ति

अखण्ड कारण के होतेहुए भी कार्य न होने के वर्णन को विशेषोक्ति कहते है—

ज्यौं ज्यौ सखी सीतल करति उपचार सब,
त्यौ त्यौ तन बिरह की बिथा सरसाति है।

यहाँ पर शीतल उपचारों के करने पर भी विरह-ज्वाला शान्त नहीं होती।

तथा—प्रीतम अरग जातें ताही तें अरगजा तें,
सीरक न होति जुर जारत है मार कौं।

सेनापति ने न जाने कितने प्रकार के सूक्ष्म चमत्कार विधानों को भाव की उच्च-भूमि पर पहुँचाया है।

"अर्थालंकार रहिता विधवैव सरस्वती" के दोष से सेनापति ने अपनी सरस्वती को बचाया है। आलंकारिक योजना का तात्पर्य भावाभिव्यञ्जना की अभिव्यक्ति के लिए होता है। सिद्धहस्त कवि अपनी निपुणता से क्लिष्ट-कल्पना को भी अलंकारों द्वारा सरस एवं बोधगम्य बना देते हैं। उत्प्रेक्षा अलंकार इस योजना का वाहक होता है।

उत्प्रेक्षा (कविकल्पना)

उत्प्रेक्षा अलंकार की सेनापति के काव्य में प्रधानता है।

सजग कल्पना के लिए उत्प्रेक्षा परमोपयोगी अलंकार है। उत्प्रेक्षा के यद्यपि बीस भेद होते हैं; किन्तु यहां पर केवल वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा एवं फलोत्प्रेक्षा के ही उदाहरण देने उचित समझे गये हैं।

वस्तूत्प्रेक्षा

एक वस्तु का दूसरी वस्तु के रूप में सम्भावना।

लाल के बियोग तैं गुलाब हू तैं लाल सोई,
असन बसन आदि जोग अभिलाख्यौ है।
सैन सुख तज्यौ, सज्यौ रैन दिन जागरन,
भूलि हू न काहू और रूप रस चाख्यौ है॥
प्यारी के नैन असुवान बरसत, तासौं,
भीजत उरोज देखि भानु मन भाख्यौ है।
सेनापति मानौं प्रानपति के दरस-रस,
शिव कौं जुगल जलसाई करि राख्यौ है॥

हेतूत्प्रेक्षा

अहेतु में हेतु की कल्पना करना।

बरन्यो कबिन कलाधर कौ कलंक, तैसौ,
को सकै बरनि, कबि हू की मति छीनी है।

सेनापति बरनी अपूरब जुगति ताहि,
कोबिद बिचारौ कौन भांति बुद्धि दीनी है॥
मेरे जान जेतिक सौं सोभा होत जानी राखि,
तेतिकै कलान रजनी की छबि कीनी है।
बढ़ती के राखे रैनि ह्वै तैं दिन ह्वै है, यातैं,
आगरी मयंक तै कला निकासि लीनी है॥

चन्द्र में कलंक इस लिए है कि जितनी कला से उसकी शोभा होती थी, उतनी ही रख दी गई। शेष रखने पर कहीं रात में दिन न परिणत हो जाय, अतः शेष कलाएं उससे प्रथक् की गई हैं, यहां पर कलंक का जो हेतु नहीं, उसे कलंक का हेतु माना गया है।

फलोत्प्रेक्षा

अथवा—अफल में फल की सम्भावना करना।

वृष कौं तरनि-तेज सहसौ किरन करि,
ज्वालन के जाल बिकराल बरसत है।
तचति धरनि, जग जरत झरनि, सीरी,
छांह कौ पकरि पंथी-पंछी बिरमत है॥
सेनापति नैंक दुपहरी के ढरत होत,
धमका बिषम, ज्यौं न पात खरकत है।
मेरे जान पौनौ सीरी ठौर कौं पकरि कौनौं,
घरी एक बैठि कहूं घामै बितवत है॥

यहाँ पर वायु कभी-कभी तापाधिक्य के कारण नहीं चलती, न कि कहीं छाह में बैठने के कारण; किंतु यहाँ पर वायु के न चलने के लिए ठण्ढ में बैठ जाना कहा है, अतः यह फलोत्प्रेक्षा है।

इस उत्प्रेक्षा में सजीवता है, और हृदय पर प्रभाव डालने की शक्ति। इसमें सजीव और निर्जीव की समानता का द्योतन है। जड़ और चेतन की समानानुभूति का प्रदर्शन है। उत्प्रेक्षा की सफलता के लिए सेनापति के मूर्त-उपमान सूक्ष्मदृष्टि के द्योतक हैं। ऐसे ही स्थलों पर कवि की कुशाग्र-बुद्धि का परिचय मिलता है।

एक स्थल पर केशव ने भी कल्पना की :—

फूलन की शुभ गेंद लई है।
सूंघी सची, जनु फेंक दई है॥ (के० का० क०)

चन्द्रमा आकाशरूपी मैदान में एक सुन्दर गेंद के समान है। जिसे देखकर प्रतीत होता है कि, वह फूल का गेंद है और उसे शची ने सूंघकर फेंक दिया है। गेंद का सूंघकर

फेंकना कुछ अधिक सुन्दर प्रतीत नहीं होता। शची के स्थान पर यदि उसका लड़का जयन्त ठोकर मारने जाता तो सम्भव है खिलाड़ी इसे अच्छी उत्प्रेक्षा कहते ?

जब स्यामसुन्दर अनन्त हरे पीतवास !
कहि करि टेरी लाज जात है निदान की।
सेनापति तब मेरे जान तेई हरिनाम,
ह्वै गए बसन हरिनाम के समान ही॥

सेनापति की उत्प्रेक्षा में इतनी बड़ी अरुचि नहीं आने पाई। विषय वस्तु का व्याघात उत्प्रेक्षा के महत्त्व को न्यून करता है। सेनापति इस दोष से प्रायः बचे से हैं।

मानो सीतकाल सीत-लता के जमाइबे को,
राखे हैं बिरंचि बीज धरा में धराइ के।

इसमें कवि ने मानव-जीवन की व्यावहारिक कल्पना की है; जो सुन्दर जान पड़ती है। केशव स्थल-स्थल पर विषय-व्याघात कर गये हैं। यह उनके पाण्डित्य की न्यूनता नहीं, अपितु कुछ हृदय की सरसता की कमी है।

कहूँ रैनचारी गहे ज्योति ठाढै,
मनौ ईश रोषाग्नि में काम ढाढ़ै॥ (के०')

अग्नि की ज्वाला में जलतेहुए राक्षस ऐसे प्रतीत होते हैं; मानों शिव की क्रोधाग्नि में कामदेव जल रहा है। यहां पर काम-जैसे सुन्दरता के देवता के साथ राक्षसों का साम्य खटकने लगता है। अतः अरुचि उत्पन्न हो जाती है।

अतिशयोक्ति

अतिशयोक्ति में लोक-मर्यादा को उल्लंघन करने की शक्ति होती है। अतिशयोक्ति का विषय भी बहुत व्यापक है। इसके बारह भेद होते हैं, उनमें से यहाँ पर साम्य रूपमें कुछ का वर्णन होगा :—

* * * *

दिनकी नन्हाई सेनापति बरनी न जाइ,
रंचक जनाइ मन आवै परबीन के।
दामिनी ज्यौं भानु ऐसे जात है चमकि, ज्यौं न,
फूलन हू पावत सरोज सरसीन के॥ ३—४७

* * * *

तथा—सीत तैं सहस-कर सहस-चरन ह्वै कै,
ऐसे जात भाजि तम आवत है घिरि कै।
जौ लौं कोक कोकी कौं मिलत तौ लौं होति राति,
कोक अध-बीच ही तैं आवत है फिरि कै॥ ३—५१

'जानियें न जात बात कहत बिलात दिन ।'

अत्यन्तातिशयोक्ति

(कारण के पूर्व ही कार्य होना ।)

'जोर जलचर अति क्रुद्ध करि जुद्ध कीनौ'–

* * * *

'जौ लौं, लैकै पानी पूजा करै जगबन्द की ।'

तौ लौं दौरि दास की पुकार लाग्यौ दीनबन्धु ,
सेनापति प्रभु मन हू की गति मन्द की ॥
जानि न परति न बखानी जाति कछू ताही ,
पानी मैं प्रगट्यौ किधौं बानी मैं गयन्द की ॥ ५—३८

इसमें सन्देहोत्थापित अतिशयोक्ति है । पुकार पहुँचने भी न पाई कि दीनबन्धु हाथी की सूंढ़ पर आ गये ।

* * * *

अक्रमातिशयोक्ति

(कार्य कारण एक साथ)

गाठ मैं गयन्द गरुड़ध्वज के पूजिबे कौं ,
जौ लौं कोई कमल लपकि लेइ पास कौं ।
तौ लौं ताही बार ताही बारन के हाथ पर्‌यौ ,
कमल के लेत हाथ कमलानिवास कौं ॥ ३—३८

चपलातिशयोक्ति

(कारण के ज्ञानमात्र से कार्य होना)

* * * *

चले ते तिहारे पिय बाढ़्यौ है बिथाग जिय ,
रहियैं उदास छूटि गयौ है सहाइ सौं ।
लोचन स्रवत जल, पल न परति कल ,
आनँद कौं साज सब धर्‌यौ है उठाइ सौं ॥ २—२२

सेनापति के प्रतीप भी बेजोड़ होते हैं ।

प्रतीप

(उपमान को उपमेय या उपमेय को उपमान समझना या उपमान को उपमेय के अयोग्य समझना)

जीतत कपोल कौं तिलोत्तमै अनूप रूप,
बात-बात ही मैं मंजु घोषै बरसति है।
देखी उरबसी मैं न काहू मैं सरस दुति,
जंघ जुग सोभा रंभा हू कौ निदरति है॥
सची बिधि ऐसी और कहौ धौं सु कैसी नारि,
सदा हरि भावते की रति कौं करति है।
जाके हैं अधर-सुधा सेनापति बसुधा मैं,
प्यारी सुरपुर हू के सुख बरसति है॥ १-६१

इस स्थल पर "जघ जुग शोभा रभा हू को निदरति है" और 'सुख बरसति है' में प्रतीपालंकार है।

तथा—महाराज रामचन्द चन्द तै सरस तू है।
तेरी समता को चन्द कैसे मन आनियै॥
* * * *

आनँद कौ कन्द मुख तेरो ता समान चन्द,
कैसे करि कीजियै कलेस नामधारी है।
आठहू पहर कर तेरे ताप-हर कंज,
बिस कौ प्रसून कैसे होत अनुकारी है॥

इसमें भी प्रतीपालंकार है।

उल्लेख

(एक वस्तु का अनेक प्रकार से उल्लेख)

* * * *

रोग करै दूरि, भोग राखै भर पूरि, एक,
अमर करन मूरि मानहू सुधा रहै।

यहाँ पर गंगा की धार को रोग दूर करनेवाली, भरपूर योग देनेवाली, अमरता देनेवाली इन तीन रूपों में देखा गया है।

तथा—अमर-अवन, दल दानव दवन-मन,
पवन-गवन, पुजवन जन चाइ कौ।
कामना कौं बरसन, सदा सुभ दरसन,
राजत सुदरसनचक्र हरि राइ कौं॥

यहाँ पर चक्र का विविध रूपों में उल्लेख किया गया है। यह हेतु और ध्वनित उल्लेख है।

विरोधाभास

(विरोध न होने पर भी विरोध-सा मालूम होना)

अति अनियारे चन्दकला से उजारे, तेई,
मेरे रखवारे नरसिंह जू के नख हैं।

अनियारे अर्थात् मलिन (प्रकाश हीन) नरसिंह जी के नख चन्द्रकला से भी उजियारे हैं यह कैसे ? यहाँ पर विरोध दूर करने के लिए अनियारे का अर्थ मलिन लेकर तीव्र, नुकीले यह अर्थ लेना पड़ता है।

तथा--"महारूखो मुनिहू को हियो चिकनाय जात।"
'नेह उपजावै पै न आप बिनसत है॥' इत्यादि--

'विषमय यह गोदावरी अमृत के फल देत', केशव का विरोधाभास और 'या अनुरागी चित्त की गति बूझै नहिं कोइ' 'ज्यौं-ज्यौं बूड़े श्यामरस त्यौं-त्यौं उज्वल होइ' बिहारी का विरोधाभास भी उन्नत कोटि का है।

व्यतिरेक

(उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष का वर्णन)

मन्द मुसकान कोटि चन्द तैं अमन्द राजै,
दीपति दिनेस कोटि हू तें अधिकानियै।
कोटि पंचबान हू तैं महा बलवान, कोटि,
कामधेनु हू तै महादानि जग जानियै॥
और ठौर झूंठौ बरनन एतौ सेनापति,
सीतापति याहू तै अधिक गुन ग्वानियै। ४—४

* * * *

समासोक्ति

(समान विशेषणों द्वारा प्रस्तुत से अप्रस्तुत का बोध होना)

* * * *

सीतल अधिक यातैं चन्दन सुहा न परै,
आँगन ही कल ज्यौं-त्यौं अगनि बराई है।
ग्रीषम की रितु हिम रितु दोऊ सेनापति,
लीजियै समुझि एक भांति सी बनाई है॥

यहां पर श्लेष अनुप्राणित समासोक्ति "तत्समानविशेषणों" के कारण है।

तथा—'जेती बनबेली ओर तिनकी न कीजै दौर।'
'राखु मन एक ठौर नीके करि बर में॥'
* * * *

देखि कै गुराई चिकनाई बार-बार भूलि,
मति ललचाहि धीरता ही कौं अबस मैं॥
सेनापति श्याम संग सेइ कै सुखित ह्वै है,
कह्यौ है उपाइ समुझाइ कै सरस मैं।
पीरे पान खाइ नीरे चूकि कै न जाइ मान,
खई मिटि जाइगी अ-रूसे ही के रस मैं॥ १-८०

यहाँ पर अप्रस्तुत नायिकाओं को तत्समान विशेषणों के अर्थ बरवेलि (लता) के पोध द्वारा सकेतित किया गया है।

अर्थान्तर न्यास

(सामान्य से विशेष का किंवा विशेष का सामान्य से समर्थन)

पति के अछ्रत, सुरपति जिन पति कीनौ,
जाके नग्व सिख रोम-रोम भर्यौ पाप है।
देह दुति गई, तई बन में पखान भई,
लाग्यौ विकराल रिषिराज कौं सराप है॥
सोई है अहिल्या सिय-सिवा के समान भई,
पतिब्रत पाइ, पायौ सती कौं प्रताप है।
सेनापति बेद मैं बखानैं तीनि लोक जानैं,
सो तौ महाराज रामचन्द कौ प्रताप है॥ ५—४८

प्रौढ़ोक्ति

(उत्कर्ष के अकारण को कारण मानना)

काल नैं कराल काल-कूट कंठ माझ लसै,
ब्याल उर माल, आगि भाल सब ही समैं।
ब्याधि के अरंग ऐसे ब्यापि रह्यो आधौ अंग,
रह्यौ आधौ अंग सो सिवा की बकसीस मैं॥

ऐसे उपचार तैं न लागती बिलात बार,
पैयतीं न बाकी तिल एकौ कहूँ ईस मैं।
सेनापति जिय जानी सुधा तैं सहस बानी,
जो पै गंगा-रानी कौं न पानी हो तौ सीस मैं॥ ५—६०

यहाँ पर उत्कर्ष का कारण न होतेहुए भी गंगा के पानी को उत्कर्ष का कारण बताया गया है।

तथा—प्यारी और भूषन कौ भूषन है तन तेरौ,
तेरियै सुबास और बास बासी जाति है॥ २—२८

नायिका के शरीर की सुवास से और सुगन्धित वस्तुओं ने वास (सुगन्ध) पाई, यह कोई कारण नहीं है; किन्तु अकारण को भी उत्कर्ष के लिए कारण बताया गया है। अतः यहाँ पर प्रौढ़ोक्ति अलंकार है।

संसृष्टि

(कई अलंकारों की एकत्र स्थिति होना)

छूटे आवै काज भिन्न करत संजोए साज,
अब-गुन गहै नेह रूप सरसात है।
तीछन कर्‌यौ है जातैं होति पति जीति करै,
लाल उर लागे अरि गात सियरात है॥
सेनापति बरने समान करि दोऊ तीनैं,
जानत हैं जान जाके ज्ञान अवदात है।
निशान कौं पाइ परैं धन ही के अंतर तैं,
छूटि जात मान जैसे बान छूटि जात है॥ १—८२

यहां पर असंगति, दृष्टान्त, उदाहरण, विरोधाभास, श्लेष और उपमा इन अलंकारों की संसृष्टि हो गई है। ऐसे स्थल एक-एक अलंकार के उदाहरण के काम भी देते है और पूर्ण संसृष्टि का भी।

संकर

(नीर-क्षीर की भांति सम्मिलित अलंकार)

कमलइ न आदरत रागै अस न धरत,
चित्त कौं बसी करत फूलन मैं न रमैं।
लै चलै परमहंस गति महा उर राचैं,
जो हरि सौं मिलि रहैं आठहू पहर मैं॥

करत सफल सब जीवन जनम जग,
जिनके प्रसंग सुख पावैं सुर तरु मैं।
सेनापति बरने हैं प्यारी के चरन जुग,
ताकी सब भाँति पाई जाति मुनिवर मैं॥ १—८६

यहां पर श्लेष और प्रतीपालंकार का संकर है।

चित्रालंकारों की छाया

चित्रालंकारों की भी कमी सेनापति के काव्य में नहीं है। यह संस्कृत की परिपाटी का अनुसरणमात्र है।

भामह, दण्डी, भोज इन लोगों ने चित्रालंकार पर अधिक जोर दिया है और उसे उत्तम कोटि का भी माना है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ जी ने तो इसका सुन्दर और विशद वर्णन किया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने चित्रालंकारयुक्त काव्य को अधम माना है। इस अधमत्व के कारण ही सेनापति ने ग्रंथान्त में केवल परिपाटी के निर्वाह के लिए चित्रालंकारों को दिया है। ये कमलाकार, खड्गाकार, छत्राकार, हस्त्याकार, अश्वाकार और सर्वतोभद्र के आकार पर बनाये जाते हैं।

यथा—को मण्डन संसार ?, गीत मण्डन पुनि को है ?,
कह मृगपति को मच्छ ? कहा तरुनी मुख सोहै ?,
को तीजौ अवतार ? कवन जननी-मन-रंजन ?
को आयुध बलदेव हत्थ ? दानव-दल-गंजन,
राज अंग निज संग पुनि कह, नरिंद राखत सकल'
सेनापति राखत कहा ?, सीता-पति को बाहु-बल॥ ५—६८

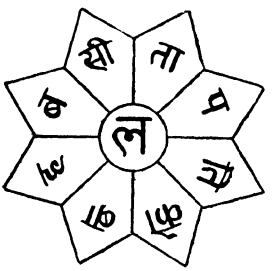

इन चित्रालंकारों में अन्तवाला पद उत्तर होता है। यथा—'सीतापति को बाहु बल।' इसमें प्रत्येक प्रश्न का उत्तर क्रमशः आदि से लेकर एक-एक अक्षर अन्तवाले अक्षर से जोड़ना चाहिए। सुगमता के लिए कमलबंध में बीच में अन्तिम अक्षर रख दिया गया है। कमल-दलों में जो अक्षर हैं, वे बीचवाले से क्रमशः मिलकर उत्तर देते रहेंगे।

यथा—'को मंडन संसार ? सील, सीता पति वाले सी को अन्तिम 'ल' से मिलाने पर उत्तर मिला। इसी भांति सबको मिलाते रहना चाहिये। इसका नियम है कि—

"अच्छर पढ़ो समस्त को अन्त बरन सों जोरि।
कमलबंध उत्तर वहै व्यस्त समस्त बहोरि॥"

काव्य-निर्णय (चित्रालंकार वर्णन २४ कवित्तरत्नाकर पृष्ठ २३५) कवित्तरत्नाकर में ३ छन्द पांचवीं तरंग में ऐसे ही हैं।

पांचवीं तरंग के ७३ से ८० तक केवल चित्र-प्रदर्शन हैं, जिनका अर्थ पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं होता।

वर्ण व्यत्यास और वर्ण वैपरीत्य के कारण इनके अनेक भेद हो जाते है। संस्कृत-साहित्य में चित्रालंकार का प्रयोग केवल चमत्कार और गूढ़ोक्ति की परख के लिए किया जाता था।

भोजनान्ते च किं पेयं, जयन्तः कस्य वै सुतः।
कथं विष्णुपदं प्रोक्तं, तक्रं शक्रस्य दुर्लभम्[१]॥

हिन्दी में ऐसी परम्परा के अन्य उदाहरण भी मिलते है। एक समानता वाले छन्द भी सेनापति की संस्कृतज्ञता के द्योतक हैं।

यथा संस्कृत में—मुरारि पद चिन्ता चेत् तदा माधे मतिं कुरु।
मुरारि पद चिन्ता चेत् तदा माधे मतिं कुरु॥

सेनापति—सुख सेनापति पाइ है भगति न मन में जानि।
सुख सेनापति पाइ है भगति न मन में जानि॥

इस भांति की रचना करके भी सेनापति ने अपनी बहुज्ञता का परिचय दिया। अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि सेनापति में अलंकार उद्भावना की प्रबल शक्ति थी और उसके उचित निर्वाह की भी।

अलंकारों और भावों का मणि-कांचन-संयोग हमें सेनापति के काव्य में देखने को मिलता है।

"सालंकारा सरस्वती" की उक्ति सेनापति ने चरितार्थ की है।

---

[१] भोजन के पश्चात् क्या पीना चाहिए ? (मट्ठा), जयन्त किसका लड़का है ? शक्रस्य (इन्द्र का), विष्णुपद प्राप्ति कैसी है ? दुर्लभ।

कवित्तरत्नाकर के छन्द

वैदिक काल से लेकर आजतक गेय प्रवृत्ति बराबर अपना अस्तित्व रखती चली आ रही है। संगत और छन्दशास्त्र का निर्माण इसी गेय प्रकृति के कारण हुआ। हर्ष में या विषाद में यह गीतलयात्मक भावना हृदय से निकल पड़ती है। जब काव्य को सुव्यवस्थित बनाने की ओर ध्यान गया और उसे गीतात्मकता देनी पड़ी तब छन्दशास्त्र का निर्माण किया गया। छन्दशास्त्रियों ने छन्दों को विभिन्न कोटियों में विभाजित किया और उनके नाम भी भिन्न-भिन्न रखे। छन्दशास्त्र के (पिंगल) कुछ छन्दों से कुछ छन्द अत्यधिक लोकप्रिय हो गये और प्रचार में आकर जन-साधारण को अभ्यस्त हो गये। किन्तु कुछ काल कवलित ही हो गये।

सेनापति ने अपने काव्य में लोकप्रिय प्रचलित छन्दों का प्रयोग किया है। इस कवि की उपलब्ध रचना पर मनन करने से ज्ञात होता है कि अपने भाव की सुन्दरतम अभिव्यक्ति के लिए कवि ने दोहा, कवित्त छप्पय और कुण्डलियां छन्दों को अपनाया।

कवित्त सेनापति का सर्वप्रिय छन्द है और अधिकृत भी। इसी छन्द की संख्या कवित्तरत्नाकर में अधिक है। अलग-अलग छन्दों में अलग-अलग भाव व्यक्त करने पर उनमें रोचकता आती है। संस्कृत में दुःखानुभूति के लिए मन्दाक्रान्ता और मालिनी, प्रकृति वर्णन के लिए वंशस्थ और इन्द्रवज्रा, द्रुतविलम्बित इत्यादि छन्द प्रयुक्त होते हैं। प्राकृत में गाथा छन्द और अपभ्रंशकाल में दोहा को तथा हिन्दी में कवित्त, छप्पय, दोहा, चौपाई को प्रधानता प्राप्त हुई। सेनापति ने गौरवास्पद सुप्रचलित एवं सुप्रतिष्ठित कवित्त को अपनी अभिव्यंजना का उपकरण बनाकर अपनी साधना-क्षमता का पूर्ण परिचय दिया।

शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसोंका इसी छन्द द्वारा वर्णन और पुष्ट करने में सेनापति कृतकार्य हुए।

इस कवित्त छन्द में लय का विधान पूर्णरूप से होता है। ७, ८, ८ वर्णों पर लय का क्रम चित्ताकर्षक होता है।

यथा—कर न सँदेह रे, कही मैं चित्त देह रे,
कहा है बीच देह रे, कहा है बीच देह रे,

कहीं-कहीं पर ८, ८, ८, ७ की लय भी होती है।

बारी हौं तिहारी छबि, ऊपर बिहारी मेरे,
तारन को प्यारे सुधा, रस बरसत हौ।

दोहा—१३—११ मात्राओं की यति से बनता है इसके प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ होती हैं—

मधु-खण्डन परिनाम है सिय रानी कौं पीय।
मधु-खण्डन परिनाम है सिय रानी कौं पीय॥

छप्पय--यह छन्द षट्पद छन्द का रूपान्तर है। सेनापति का छप्पय रोला और उल्लाला के योग से बना हुआ है; किन्तु इसमें कहीं-कहीं मात्राओं की न्यूनता और अधिकता पाई जाती है। 'भूषित रघुबर बंस' .....'राम विश्व मंगल करन।'

सेनापति ने उस समय के सभी प्रचलित प्रसिद्ध छन्दों से अपनी भाषा को विभूषित किया है। छन्दोभंग और यतिभंग दोष सेनापति की भाषा में प्रायः पाये जाते हैं। च्युत-संस्कृति दोष भी है। न्यूनपद दोष भी दो-चार छन्दों में पाया जाता है।

वाग्वै-चित्र्य

ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य-प्रतिभा के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट किया है कि--

"न काव्यार्थ विरोधोऽस्ति यदिस्यात् प्रतिभागुणः।"

विषय कितना ही नीरस और प्राचीन क्यों न हो—किन्तु कवि में यदि प्रतिभा जैसी वस्तु है तो वह प्रत्येक विषय को सरस और नवीन बना सकता है। कई ऐसे विषय हैं जिनका वर्णन प्रायः प्राचीन कर चुके हैं और अर्वाचीन कर रहे हैं; किन्तु कालिदास ने अपनी प्रतिभा के बल पर कुमारसंभव, अभिज्ञानशाकुन्तलम् तथा विक्रमोर्वशीय को एक नवीन ही दृष्टिकोण देकर सर्वप्रिय बना दिया। रामधारी सिंह 'दिनकर का कुरुक्षेत्र' जो महाभारत का 'चर्वित चर्वण' है, उसमें भी प्रतिभा के कारण ही नवीनता और चित्ता-कर्षकता देखी जाती है।

इसी प्रतिभा के बल पर कवि उक्ति-वैचित्र्य की पटुता द्वारा अपने काव्य में पाठक के मन को रमाने की शक्ति उत्पन्न कर देता है। उसकी विधायक-कल्पना पाठक की ग्राहक-कल्पना का रूप धारणकर तदाकार हो जाती है। यदि ऐसा न होता तो काव्य के क्षेत्र में पुरातन के अतिरिक्त नवीनता के दर्शन ही न होते और नव-निर्माण का कार्य बन्द हो जाता। इसीलिए तो कहा गया है कि--

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्,
स्फुरितमिदमतीयं बुद्धिरप्युज्जहीते।
अनुगतमपि पूर्व छायया वस्तु तादृक्,
सुकविरुपनिबध्नेन्निन्द्यतां नोपयाति॥

(ध्वन्यालोक)

अर्थात्—जो कुछ भी इस संसार में काव्य कहा जाता है यदि उसमें नवीन स्फुरणा न होती एवं उक्ति-वैचित्र्य के कारण काव्य में नवीनता एवं चमत्कृति न लाई जाती तो नव काव्य-निर्माण ही न होता। प्रतिभा के बल पर पूर्वानुभूत विषय की छाया लेकर उसे उक्ति-वैचित्र्य से सालंकृत करनेवाला कवि निन्दनीय नहीं होता। एक ही विषय में नवीनता, मधुरता, हृदयस्पर्शिता और ग्राहकता प्रतिभाजन्य उक्ति-वैचित्र्य के कारण ही आती है।

उक्ति-वैचित्र्य को यदि वक्रोक्ति का पर्याय समझा जाय तो भी हानि न होगी। क्योंकि दण्डी और कुन्तक आदि आचार्यों ने तो "वक्रोक्ति जीवितम् काव्यम्" यह माना ही ह। इस पद्धति का आश्रय लेकर कवि-भारती नव वस्तु योजना को घटित करती है।

सेनापति में इस प्रतिभा के पूर्ण दर्शन होते हैं। प्रतिभा के कारण सेनापति उक्ति-वैचित्र्य के सफल कवि कहे जा सकते है। किसी भी विषय का वर्णन इस ढंग से करना कि उसमें अर्थबोध, चमत्कृति एवं आनन्दोद्बोध की सुगमता हो जाय यह श्रेष्ठ कवि का काम है। सेनापति के कहने का ढंग बड़ा विचित्र और हृदयंगम होता है।

नीके रमनी के उर लागे नख-छत, अरु,
घूमत नयन, सब रजनि जगाए हौ।
आए परभात, बार-बार हौ जँभात सेना-
पति अलसात तऊ मेरे मन भाए हौ॥
कहा है सकुच मेरी, हौं तौ हौं तिहारी चेरी,
मैं तौ तुम निधनी कौं धन करि पाए हौ।
आवत तौ आए सुधि ताकी है कि नाहीं जाके,
पाइ के महा-उर की खौरि करि आए हौ॥ २—३२

खण्डिता नायिका अपने पति से सहानुभूति प्रदर्शक शब्दों में कितनी गहरी बात कह रही है—तुम रातभर कही रहकर आए हो। अब अलसा रहे हो, फिर भी तुम मुझे अच्छे लग रहे हो। मुझसे संकोच करने की क्या बात ? मैं तो तुम्हारी चेरी हूँ। मेरे लिए तो तुम निधनी के धन हो। पर जहां से आए हो उसकी भी कुछ सुध है कि नहीं। मैं चेरी हूँ से यह ध्वनि निकलती है कि तुम चाहे जितने भी अप्रिय कृत्य करो मैं कुछ कह तो सकती नही, मुझे चाहे जो कुछ भी कहो, और यदि तुम मुझे कुछ समझते होते तो ऐसा कृत्य करते ही क्यों ? पर मुझसे तुम्हें कुछ सकोच ही नहीं होता—क्या यही एक पति कहलानेवाले व्यक्ति का कर्तव्य है ?

बात सीधी सी है पर कहने के ढंग ने उस बात को मार्मिक बना दिया, जिसे सूक्ष्म-बुद्धिवाले समझकर रस लाभ कर सकते है।

बिन ही जिरह हथियार बिन ताके अब,
भूलि मति जाहु सेनापति समझाए हौ।
करि डारी छाती घोर घाइन सौं राती-राती,
मोहिं धौं बतावौ कौन भांति छूटि आए हौ॥
पौढ़ौ बलि सेज करौं औषद की रेज बेगि,
मैं तुम जियत पुरबिले पुन्न पाए हौ।
कीने कौन हाल! वह बाघिन है बाल! ताहि,
कोसति हौं लाल, जिन फारि-फारि खाए हौ॥ २—३५

इसमें बात सीधी सी कही गई है कि तुम्हें कुलटा नायिकाओं के सम्पर्क में नहीं रहना चाहिये। पर इसी बात को कुछ ऐसे विचित्र ढंग से कहा गया है कि पाठक पढ़कर आनन्दमग्न हो जाता है। 'वह बाघिन है बाल' और 'फारि-फारि खाए हौ' 'कौन भांति छूटि आए हौ' 'ताहि कोसति हौं लाल' इन शब्दों में परिस्थिति का चित्रण उपस्थित हो जाता है, और व्यंग्यात्मक सहानुभूति भी। यदि इसी बात को वह खण्डितानायिका यों कहती कि 'तुम कहीं इस प्रकार मत जाया करो, तुम्हारी छाती पर ये घाव किसने किए ? तो सम्भवतः काव्यानन्द प्राप्त न होता और प्रणय सम्मिश्रित ईर्ष्या की पूर्णाभिव्यक्ति अरुचिकर ढंग से होती। 'बाघिन है बाल' शब्द स्वकीया का ममत्त्व एवं परकीया की स्वार्थबुद्धि का स्पष्टीकरण करता है, बाघिन का काम तो अपनी उदरपूर्ति करना ही है उसे किसी की हानि और लाभ से क्या। पर अपने व्यक्ति तो अपनों को बाघिन के पंजों से भी छुड़ाने की चेष्टा करेंगे। 'भूलि मति जाहु' में सम्मानित शंका की ओर संकेत है। (श्री उमामंकर जी शुक्ल ने इस छन्द के विषय में लिखा है—कहां तो शृंगार-रस के आलम्बन का, विभाव का वर्णन और कहां बाघिन और मलहम पट्टी की चर्चा। वचन वक्रता बड़ी सुन्दर होती है। परन्तु वह 'फारि-फारि खाये हौ।' विना भी प्रदर्शित की जा सकती थी।)

हमारा विचार है कि शुक्ल जी से इस स्थल पर काव्य परख करने में कुछ त्रुटि हो गई। प्रकरणानुकूल उक्ति खण्डिता नायिका की है। जो ईर्ष्या से युक्त है। खण्डिता नायिका के भाव को व्यक्त करने के लिए जबतक बाघिन और फारि-फारि शब्दों का प्रयोग न किया जाता तबतक उसके हृदय की ईर्ष्या और सहानुभूतिजन्य व्यंग्य कैसे प्रतीत होते। इस छन्द में शृंगार की भावना तो ईर्ष्या से तिरोभूत हो गई है। पति का अनौचित्य और परकीया की दाह प्रबल है। उसके लिए भावाभिव्यंजक शब्दों की ही आवश्यकता थी। जो कि बाघिन और फारि-फारि शब्दों के यथास्थान पर ही हो सकती थी।

सेनापति की वाग्विदग्धता के अन्य स्थल भी प्रभावोत्पादक है।

साँचे और ही सौं झूंठे हम सौं सुहासपन,
सेनापति औसरे हू हमें बिसरत हौ।
तब वह कीनी, रैनि बसे उन ही के अब,
पाइपरि मोहिं अपराधिनी करत हौ॥ २-३४

इसमें तो तुम हँसकर भुलावे में डाल देना चाहते हो। जब कभी अवसर आता है तो तुम हमें तो भूल ही जाते हो—क्यों न हों, हमें तुम अपना मानते ही कब हो—और अब अपनी चतुराई से पांव में पड़कर हमें और भी कलंकित कर रहे हो ? यह भाव व्यक्त किया गया है। 'प्राणेशपातपतनावधिरेव मानः' की उक्ति को सार्थक करनेवाले शठ नायक के प्रति यह ताना कसना है।

'जेंवत ही वाके अँचवत ही पराये हो' में चुभनेवाला व्यंग्य है। खाया और खिसके। फिर तो दर्शन भी दुर्लभ हो जाता है। क्या ऐसे ही प्रेम किया जाता है ?

इससे भी अधिक वचन विदग्धता का परिचय हमें तब मिलता है जब हम व्याकुल नायिका की उक्ति पढ़ते हैं—

मोती माल पोहत ही सखिन मैं सोहत ही,
मोहत ही मन मृग-नैनी हाइ भाइ कै।
आयौ है अचानक तहँई कान्ह बानक सौं,
प्यारि रस बस भई निरखत चाइ कै॥
सेनापति चातुर सखी के मिस आतुर ह्वै,
आप ही कहति ताहि बचन सुनाइ कै।
हितकरि चित दै कै मोतियै परखि लै कै,
आज लाल रस मैं सफल करु आइ कै॥ १-८१

हे सखि ! ये कुछ मोती है इनको परख करके ले लो और आज लाल रेशम में गू थकर इन्हें माला बनाकर (पहिन कर) सफल करो। 'हित करि चित दै कै मोतियै परखि लै कै' में कहा गया है कि हे लाल मुझ जैसी स्त्री को परख लो और आज का समय (सुअवसर) सफल कर जाओ। इसमें जो कुछ भी कहना था कह दिया गया है, पर वह इतनी चतुरता के साथ कहा गया है कि उसमें अशिष्टता नही आने पाई।

इसीलिए तो कहा गया है कि काव्य में किस प्रकार के शब्दों का प्रयोग करना चाहिये।

नांध्री पयोधरइवातितरां प्रकाशः
नो गुर्जरीस्तनइवातितरां निगूढ़ः।
शब्दो गिरामपिहित विहितश्च कश्चित्
सौभाग्यमर्हति मरहट्टवधूकुचाभः॥

शब्द को काव्य में आंध्रदेशीय नारियों के पयोधर की भांति अत्यन्त खुला भी नही होना चाहिए, और न गुजरात की रमणियों के कुच-मण्डल की भांति नितान्त छिपा हुआ होना चाहिए, उसे तो महाराष्ट्रदेशीय नारियों के स्तन की भाँति अर्धनिगूढ़ और अर्ध-विकसित होना चाहिये।

क्योंकि—सर्व ढके सोहत नहीं, उघरे होत कुवेश।
अर्ध ढके सोहत सदा, कवि अक्षर, कुच, केश॥

यह उक्ति सेनापति के काव्य पर पूर्ण चरितार्थ होती है। उनकी कुशाग्रबुद्धि वाग्वैचित्र्य में कभी कुण्ठित नहीं हुई।

झूँठे काज कौं बनाइ, मिस हौं सौं घर आइ,
सेनापति स्याम बतियान उघरत हौ।
आइकै समीप, करि साहस सयान ही सौं,
हँसी-हँसी बातन ही बाँह कौं धरत हौ॥
मैं तौ सब रावरे की बात मन मैं की पाई,
जाकौं परपंच एतौ हम सौं करत हौ।
कहाँ एती चतुराई पढ़ी आप जदुराई,
आँगुरी पकरि पहुँचा कौं पकरत हौ॥ २—३०

यह व्यावहारिक वचनचातुरी की क्षमता है।

'याते हम बोलैं बोलि पीछे पछताती हैं।'

तथा—'कीनौ पाइलागनौ सो लागि रह्यो मन में।'

एवं—'आरसीले नैना आरसी लै क्यौं न देखियै।'

इस उक्ति में प्रौढ़ा के स्वभाव का सुन्दर चित्रण किया गया है।

नायक का प्रणाम करना भी चित्त में चुभ गया है। इस चुभने में अशान्ति और वेदना की प्रबलता विदित होती है। काश! एक बार फिर दर्शन हो सकते—इत्यादि। इसी उक्ति-वैचित्र्य के अभाव में काव्य-सौन्दर्य निखरने नहीं पाता। क्योंकि रागात्मक-तत्त्वों को परिचालित करने की शक्ति वाग्विदग्धताजन्य व्यंग्य में ही निहित रहती है।

सेनापति के काव्य में इस भाँति के वैचित्र्य का बाहुल्य है। कवित्त, सवैया छन्द इसके लिए उपयुक्त सिद्ध हुआ है; क्योंकि भावपूर्ण पदयोजना इसमें सुन्दर होती है।

१ तेरे उर लागिबे को लाल तरसत है।
२ हार करौ ताहि जाहि लाल तू कहति है।
३ तेरे नेह नाते तेरे लागत परौसी प्यारे।
४ तेरी गली गए सुख सबै सरसत है।
५ सुरत्यौ बिसारी भयौ दूभरी दरस है।
६ लोग उतपाती कानाबाती हैं करत घाती,
जब गली वाकी नेंक पाउँ धरियत है।
७ जानत हौ प्यास कैसे ओसनि बुझाति है।

इत्यादि स्थल भी वाग्वैचित्र्य की सुन्दरता के द्योतक हैं।

रे रे सूरौ! सुरसरी सौरौ सासौ साख,
रोस रूसि संसार सौ सौरौ से रस रास।

ऐसे छन्द भी सेनापति ने लिखे हैं। किन्तु इनमें काव्य-क्लिष्टता आ गई है। यद्यपि यह भी उक्ति-वैचित्र्य का ही ढंग है। कविवर भारवि और माघ ने भी अपने किराता-

जुंनीय एवं शिशुपालवध में यत्रतत्र सर्ग के सर्गरूप में इस प्रकार की शैली का प्रदर्शन किया है। ऐसा काव्य उत्तमकोटि का नहीं होता।

सेनापति के काव्य का जितना ही मनन और अनुशीलन किया जाय उतना ही काव्य की सूक्ष्म विशेषताओं का पता लगता है। सेनापति की प्रतिभा का काव्य के सर्वाङ्गों पर अधिकार था, यह भी मान लेना पड़ता है। अन्त में यह मानना पड़ता है कि सेनापति उक्ति-वैचित्र्य और वाग्विदग्धता में अति निष्णात थे। जिसका प्रमाण उनकी चुभतीहुई उक्तियाँ है।

कवि सेनापति का काव्यानुशीलन

प्रकृति विश्व की उस समस्त जड़ और चेतन सत्ता को कहते हैं जो क्रिया गति एवं संचालन को प्रभावात्मक शक्ति देती है। "सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः" इन्हीं गुणों के कारण पदार्थ गतिशील होते हैं। इसीलिए प्रकृति का क्षेत्र जड़ और चेतन की सृष्टि है।

हिन्दी के रीति-कालीन कवियों ने प्रकृति के बाह्य एवं आभ्यन्तररूपों को देखने की चेष्टा की है। जिसकी भाव-सत्ता का जैसा विस्तार रहा उसने एक ही उपादान में वैसा ही भावोद्बोधन के द्वारा चित्रण किया।

सेनापति ने अपने काव्य में प्रकृति को मानवसापेक्ष्य बनाकर उसके-उभयपक्ष का समन्वय किया। डा० रघुवंशजी ने अपनी पुस्तक "प्रकृति और काव्य" में लिखा है कि—'प्रकृति-वर्णन में सेनापति का विशेष महत्त्व है.....। उनके वर्णनों में जो स्वतन्त्र चित्र लगते है, उनमें शृंगार की भावना का आधार बहुत हल्का है। उन्होंने प्रकृति के रूपों को यथार्थ में उपस्थित किया है।"

यह बात सत्य है। इनके प्रकृति-सम्बन्धी विशद और सूक्ष्म एवं स्वाभाविक चित्रणों को देखकर यह धारणा होती है कि सेनापति का प्रकृति के प्रति भी विशेष अनुराग था। सेनापति ने प्रकृति का निरीक्षण समीप और दूर से किया। उनका षड्ऋतुवर्णन स्वतंत्र प्रकृति वर्णन है। प्रकृति का स्थूलरूप कैसा है, लोगों के मन पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है और वे प्रकृति के वातावरणानुकूल कैसा आचरण करते हैं आदि भावों को लेकर कवि ने प्रकृति के साथ मानव-हृदय का परम मधुर सामञ्जस्य दिखाया है। सेनापति की दृष्टि रीतिकालीन संकीर्ण परम्परा से युक्त क्षेत्र से हटकर प्रकृति के उन्मुक्त और सुरम्यस्थलों की ओर गई। इसीलिए कवि ने अंतः सौंदर्य के रमणीय पक्ष को भी भलीभांति देखा। इसके पूर्व प्रकृति को केवल उद्दीपन तथा रस जागृति का अंगमात्र माना जाता था—प्रकृति के सुरम्यरूपों को देखकर भावप्रवण होकर उनका संश्लिष्टचित्रण करने की प्रणाली का उस समय अभाव सा ही था।

परन्तु सेनापति इस परिपाटी के अपवादस्वरूप थे। उन्होंने प्रकृति के मनोरम-स्थलों के प्रति भावप्रवणता का अनुभव किया। पर सेनापति का प्रकृति-वर्णन किसी रस या भाव का अंग बनकर नहीं हुआ। इस वर्णन का उद्देश्य केवल उद्दीपन नहीं, सौन्दर्यानुभूति है। प्रकृति और उसके प्रभाव का नैसर्गिक-चित्रण भावपूर्ण है। प्रत्येक वर्णन में कवि का प्रकृतिविषयक स्वतंत्र अनुराग एवं सौन्दर्यदर्शनजन्य उत्फुल्लता प्रत्यक्ष दृष्टिगत होती है। आचार्य शुक्ल जी के मत से—"इनका षड्ऋतु वर्णन हिन्दी-साहित्य में अपने ढंग का अप्रतिम ही है। उसकी टक्कर का दूसरा ऋतुवर्णन किसी भी कवि का नहीं ठहरता। ये उस कक्षा के कवियों में सर्वप्रधान कवि हैं। जिन्होंने शृंगाररस के उद्दीपन-सम्बन्धी ऋतु-वर्णन की एक स्वतंत्र परिपाटी चलाई है, और इसे मुक्तककाव्य के लिए स्वतंत्र विषय ठहराया है। ऋतु-वर्णन तो इनके ऐसा और किसी शृंगारी-कवि ने नहीं किया है।" श्री हरिऔध जी ने लिखा है कि—

"षड्ऋतु का जैसा उदात्त और व्यापकवर्णन सेनापति ने किया है वैसा दो-एक महाकवियों की लेखनी ही कर सकती है।" बाबू श्यामसुन्दरदास जी के मतानुसार—"इन्होंने षड्ऋतुओं का वर्णन किया है जो बहुत ही हृदयग्राही हुआ है। इन्हें प्रकृति की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बातों का अनुभव भी था और इनका निरीक्षण भी विशेष मार्मिक था।"

वास्तव में यह बात सत्य है। उदाहरणों से भी ऐसा प्रतीत होता है।

वसन्त

बरन बरन तरु फूले उप-बन बन,
सोई चतुरंग संग दल लहियत है।
बंदी जिमि बोलत, बिरद बीर कोकिल हैं,
गुञ्जत मधुपगान गुन गहियत है॥
आवै आस-पास पुहुपन की सुबास सोई,
सोधे के सुगन्ध माँझ सने रहियत है।
सोभा कौ समाज, सेनापति सुख-साज, आज,
आवत बसंत रितुराज कहियत है॥ ३—१

इसमें केवल रूपक खड़ा किया गया है किन्तु इस रूपक में भी वसन्ती वातावरण के भाव हैं, जो वस्तु-साक्षात्कार के द्योतक हैं।

लसत कुटज, घन-चंपक पलासबन,
फूली सब साखा जे हरति जन चित्त हैं।
सेह, पीत, लाल, फूलजाल हैं बिसाल तहां,
आछे अलि अच्छर, जे कारज के मित्त हैं॥

सेनापति माधव-महीना भरि नेम करि,
बैठे द्विज कोकिल करत घोष नित्त हैं।
कागद रँगीन मैं प्रवीन हैं बसंत लिखे,
मानौं काम चक्कवै कै विक्रम कवित्त हैं॥ ३—३

तथा—धारचौ है रसाल मौर .....आदि ३—७

यह सारा चित्रण यथार्थ की प्रभावात्मकता का द्योतक है।

ग्रीष्म

अब वसन्त की मनोरमता के पश्चात् ग्रीष्म की भीषणता का भीम-मनोहर चित्रण भी देखिए। कैसा विशद और स्वाभाविक चित्रण किया है सेनापति ने। यह चित्रण स्वतन्त्र है और किसी भाव-विशेष का अंग नहीं है।

बृष कौं तरनि तेज सहसौ किरन करि,
ज्वालन के जाल बिकराल बरसत हैं।
तचति धरनि, जग जरत झरनि, सीरी,
छाँह कौ पकरि पंथी-पंछी बिरमत हैं॥
सेनापति नैंक दुपहरी के ढरत, होत,
धमका बिषम, ज्यौं न पात खरकत है।
मेरे जान पौनौं सीरी ठौर कौं पकरि कौंनौं,
घरी एक बैठि कहूँ घामैं बितवत हैं॥ ३—११

यह उत्प्रेक्षा उत्प्राणित ग्रीष्म का वर्णन है जिसमें पवन को सप्राण-सत्ता मानकर उसे भी किसी वृक्ष की शीतलछाया में बैठा दिया गया है। अर्थात् ग्रीष्म का प्रभाव इतना प्रबल है कि हवा भी नहीं चल रही है।

इससे भी बढ़कर एक और मार्मिक चित्र देखिये :—

सेनापति ऊँचे दिनकर के चलति लुवैं,
नद, नदी, कुवैं, कोपि डारत सुखाइ कै।
चलत पवन मुरझात उपबन बन,
लाग्यौ है तवन, डार्‌यौ भूतलौ तचाइ कै॥
भीषम तपत रितुग्रीषम सकुचि तातैं,
सीरक छिपी है तहखानन मैं जाइ कै।
मानौं सीत-काल सीत-लता के जमाइबे कौं,
राखे हैं बिरंचि बीज धरा मैं धराइ कै॥ ३—१२

शीत को तहखानों में ब्रह्मा ने मानों इस लिए छिपा रखा है कि ग्रीष्म के प्रचण्ड आक्रमण से उसका अस्तित्व ही मिटनेवाला था। अतः अगली फसल पर के लिए कुछ सीत के बीजों को तो बचा लिया जाय। इसी लिए उसकी रक्षा की जा रही है। बात इतनी ही है कि गर्मी में तहखाने ठण्ढे रहते हैं पर इसी बात को व्यवहारोपयोगी जीवन की अभ्यस्तता के द्वारा व्यक्त किया गया है जिसके, कारण कविता में कुछ तत्त्व विदित होता है।

* * * *

"गगन गरद धूँधि, दसौ दिसा रही रूँधि,
मानौं नभ भार की भसम बरसत है।
बरनि बताई, छिति व्यौम की ततार्ई जेठ,
आयौ आततार्ई पुट-पाक सौं करत है ॥ ३—१५

इसमें ग्रीष्म का वह रूप है जो धरणी और नभ के बीच के लोगों का पुट-पाक बना रहा है। जैसे मकरध्वज इत्यादि औषधियों के सिद्ध करने के लिए अग्नि ज्वाल प्रज्वलित कर घड़े के भीतर उन्हें सिद्ध किया जाता है उसी भाँति ग्रीष्म भी सबको तपा रहा है।

ऋतु के प्रभाव के कारण प्राणियों की परिस्थिति में क्या अन्तर आता है यह प्रत्यक्षानुभूति का विषय है।

जेठ नजिकाने सुधरत खसखाने तल,
ताख तहखाने के सुधारि झारियत हैं।
* * * *
सार तार-हार मोल लै लै धारियत हैं ॥

इस भाँति की स्थिति आज भी ग्रीष्म के आने पर देखने को मिलती है। और प्रायः सभी व्यक्ति कुछ न कुछ शीतोपचार करते हुए दृष्टि में आते हैं।

वर्षा

दामिनि दमक सुर चाप की चमक, स्याम,
घटा की झमक अति घोर घनघोर तैं।
कोकिला, कलापी, कल कूजत है जित-तित,
सीकर ते सीतल, समीर की झकोर तैं ॥
सेनापति आवन कह्यो है मनभावन, सु—
लाग्यौ तरसावन बिरह जुर जोर तैं।
आयौ सखी सावन मदन बरसावन,
लग्यौ है बरसावन सलिल चहूँ ओर तैं ॥ ३—२६

इस स्थल पर प्रकृति का प्रभाव हृदय पर किस प्रकार पड़ता है और वह प्रकृति में अपने सुख या दुखों के उपादानों का किस भाँति अन्वेषण करता है इस मनःस्थिति का चित्रण है। साथ ही वियुक्तमानव हृदय की तरल-वेदना प्रकृति और मानव को कितना सापेक्ष्य बना देती है इसका उदाहरण भी देखिये :—

दूर जदुराई सेनापति सुखदाई देखौ,
आई रितु पाउस न पाई प्रेम-पतियाँ।
धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी है,
दरकी सुहागिल की छोहभरी छतियाँ॥
आई सुधि वर की हिए मैं आनि खरकी, तू,
मेरी प्रान प्यारी, यह पीतम की बतियाँ।
बीती औधि आवन की, लाल मनभावन की,
डग भई बावन की सावन की रतियाँ॥ ३—५८

यहां पर पावस का प्रभाव स्पष्ट ही लक्षित होता है। इसे यदि उद्दीपन का द्योतक माना जाय तो फिर यही कहा जा सकता है कि प्रकृति केवल एक तमाशे की वस्तु है जिसका मानव से कोई लगाव नहीं। ऋतुओं के प्रभाव का यह भावमय चित्रण है। इसमें उद्दाम-वासना का नग्न-नृत्य नही है।

सेनापति उनए नए जलद सावन के,
चारि हू दिसान घुमरत भरे तोइ कै।
सोभा सरसाने, न बखानेजात काहू भाँति,
आने हैं पहार मानौं काजर के ढोइ कै॥
घन सौं गगन छ्यौ, तिमिर सघन भयौ,
देखि न परत मानौं रबि गयौ खोइ कै।
चारिमास भरि स्याम निसा के भरम करि,
मेरे जान याही तैं रहत हरि सोइ कै॥ ३—३१

प्रकृति का यह स्वतत्र चित्रण है। यह सावन की प्राकृतिक शोभा है। चारों ओर बादल घुमड़कर नभ में छा गये है, मानों काजल के काले पहाड़ ढोकर लाये गये हैं, सर्वत्र अंधकार छा गया है। सूर्य का पता नहीं लगता है। दिन में रात की भ्रान्ति हो जाती है। चार मास तक (चौमासा) यही स्थिति चलती रहती है। इसीलिए सम्भवतः हरि भी चातुर्मास्यव्रत धारणकर (रात समझकर) क्षीरसागर में शयन करते रहते है ?

गगन-अँगन घना घन तै सघन तम,
सेनापति नैंक हू न नैन मटकत हैं।
दीप की दमक जुगुनून की झमक छ्वांड़ि,
चपला चमक और सौं न अटकत हैं॥

रबि गयौ दबि मानौं ससि सोउ धरि गयौ,
तारे तोरि डारे सेन कहूँ फटकत हैं।
मानौं महातिमिर तै भूलि परी बाट तातैं,
रबि ससि तारे कहूँ भूले भटकत हैं॥ ३—२९

आकाश में मेघों की निविड़ सघनता और विद्युत् का चलप्रकाश हो रहा है। घनान्धकार ने रवि, शशि, तारों को आच्छादित कर दिया है। वे अन्धकार में भटक रहे हैं। यह भी प्रकृति का स्वतंत्रचित्रण है।

अब आयौ भादौं, मेह बरसै सघन कादौ-
सेनापति जादौ-पति बिना क्यौं बिहात है।
रबि गयौ दबि, छबि अंजन तिमिर भयौ,
भेद निसि-दिन कौं न क्योंहू जान्यौ जात है॥
होति चकाचौंधि जोति चपला के चमके तैं,
सूझि न परत पीछे मानौं अधरात है।
काजर तैं कारौ, अँधियारौ भारौ गगन मैं,
घुमरि-घुमरि घन घोर घहरात है॥ ३—३३

इसमें यथार्थचित्रण प्रत्यक्ष बोधगम्य एवं भावमय है। यद्यपि "सेनापति जादौपति बिना क्यौं बिहात है" में उद्दीपन की सी बात है। पर वह ऋतुप्रभाव के अन्तर्गत है, प्रधानता चित्रण की ही है। प्रभाव तो आनुसंगिक फल है।

शरद्

पाउस निकास तातैं पायौ अवकास, भयौ,
जोन्ह कौं प्रकास, सोभा ससि रमनीय कौं।
बिमल अकास, होत बारिज बिकास, सेना-
पति फूले कास हित हंसन के हीय कौं॥
छितिन गरद, मानौ रँगे हैं हरद सालि,
सोहत जरद, को मिलावै हरि पीय कौं।
मत्त हैं दुरद, मिट्यौ खंजन-दरद रितु,
आई है सरद सुखदाई सब जीय कौं॥ ३—३७

इस वर्णन में एक व्यापक योजना का समावेश है।

खंड-खंड सब दिग-मंडल जलद सेत,
सेनापति मानौं सृङ्ग फटिक पहार के।
अंबर अडंबर सौ उमड़ि घुमड़ि, छिन,
छिछकैं छछारे छिति अधिक उछार के॥

सलिल सहल मानौं सुधा के महल नभ,
तूल के पहल किधौं पवन अधार के।
पूरब कौं भाजत हैं, रजत से राजत हैं,
गग गग गाजत गगन घन क्वार के॥ ३—३८

शरद् का यह निरीक्षण समीप और दूर से किया गया है। इसमें अन्तःसौन्दर्य की रमणीयता है। भावप्रवणता की मनोरमता भी इसमें है और कवि का प्रकृति-विषयक स्वतंत्र अनुराग भी दिखाई देता है। उदात्त और व्यापक वर्णन कार्त्तिक की रातों का किया गया है।

कातिक की राति थोरी-थोरी सियराति, सेना-
पति है सुहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानौं मोती अनगन हैं॥
उदित बिमल चंद, चाँदनी छिटकि रही,
राम कैसौ जस अध ऊरध गगन हैं।
तिमिर हरन भयौ, सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीरसागर मगन हैं॥ ३—४०

विमलशुभ्र चांदनी की दुग्ध-धवलता का सागर मानों उछल रहा है। यह कवि की सूक्ष्मप्रतिभा का परिचय है।

सेनापति आए तैं सरद रितु फूलि रहे,
आस पास कास खेत-खेत चहूं देस हैं।
जोबन हरन कुंभजोनि उदए तैं भई,
बरसा बिरध ताके सेत मानौं केस हैं॥ ३—३९

यहाँ पर—उदित अगस्त पंथ जल सोखा,

और—"फूले कास सकल महि छाई,
जनु बरसा ऋतु प्रगट बुढ़ाई" की भावना का प्रतिबिम्ब भी उदात्तरूप से प्रतिबिम्बित किया गया है।

हेमन्त

शीतकाल में प्रकृति परिवर्तन मानव के अंगप्रत्यङ्गों को किस भांति संज्ञाशून्य कर देता है। इसको सेनापति यों कहते हैं—

धायौ हिम-दल हिम-भूधर तैं सेनापति,
अंग-अंग जग, थिर जंगम ठिरत है।
प यै न बताई भागि गई है ततार्ई, सीत,
आयौ आततायी, छिति अंबर घिरत है॥
करत है प्यारी, भेष धरिकै उज्यारी ही कौं,
घाम बार-बार बैरी बैर सुमिरत है।
उत्तर तैं भाजि सूर, ससि कौं सरूप करि,
दच्छिन के छोर छिन आधक फिरत है॥ ३—५४

तथा—आयौ जोर जड़कालौ, परत प्रबल पालौ,
लोगन कौं लालौ पर्‌यौ, जियैं कित जाइ कै?
ताप्यौ चाहैं बारि कर, तिन न सकत टारि,
मानौं हैं पराए, ऐसे भए ठिठराइ कै॥
चित्र कैसो लिख्यौ, तेजहीन दिनकर भयौ,
अति सियराइ गयौ घाम पतराइ कै।
सेनापति मेरे जान सीत के सताए सूर,
राखे हैं सिकोरि कर अंबर छपाइ कै॥ ३—५५

प्रकृति के इस कष्टप्रद रूप के साथ भावना का सुन्दर सामञ्जस्य बैठाया गया है।

शिशिर

शिशिरवर्णन में सेनापति ने आलंकारिक योजना से विशेष काम लिया है; किन्तु उसमें भी सजीव स्वाभाविकता का त्याग नहीं हुआ है—

सीत कौं प्रबल सेनापति कोपि चढ़्यौ दल,
निबल अनल, गयौ सूर सियराइ कै।
हिमके समीर, तेई बरसैं बिषमतीर,
रही है गरम भौन कोनन मैं जाइ कै॥
धूम नैन बहैं लोग आगि पर गिरे रहै,
हिय सौं लगाइ रहैं नैक सुलगाइ कै।
मानौ भीत जानि महा सीत तैं पसारि पानि,
छतियां की छांह राख्यौ पाउक छिपाइ कै॥ ३—४५

जाड़े के कारण लोग जलाकर तापते रहते हैं। धुएँ से आंखें बहती रहती हैं। लोग आग पर गिरे जा रहे हैं। कवि कहता है मानो वे लोग अपने हाथों को आग के ऊपर करके उसे शीत के आक्रमण से बचा रहे हैं। इसीलिए उसे छाती से लगाए हुए हैं।

इस स्वाभाविकता में उत्प्रेक्षा और प्रौढ़ोक्ति का सामञ्जस्य, वर्णन को सप्राण और मार्मिक बना देता है। इसमें साधारणजीवन की व्यावहारिकता का प्रदर्शन है। "द्रौपदी के चीर कैसौ राति के महत है," कहकर सेनापति ने परम्परागत उस विश्वास की पुष्टि की है जिसके कारण लोग कहा करते हैं कि जाड़ों में दिन छोटे और रातें बड़ी होती हैं। यह अनुभूति भी है और परम्परा की रक्षा भी।

"दिन की नन्हाई सेनापति बरनी न जाइ," में भी यही बात है।

सिसिर में ससि को सरूप पावै सविताऊ,
घामहू मैं चांदनी की दुति दमकति है।
सेनापति होत सीतलता है सहसगुनी,
रजनी की झांई बासर मैं झमकति है॥
चाहत चकोर सूर ओर दृग छोर करि,
चकवा की छाती तजि धीर धसकति है।
चंद के भरम होत मोद है कुमोदिनी कौं,
ससि संक पंकजिनी फूलि न सकति है॥ ३—५०

शिशिर में सूर्य ने चन्द्र का रूप ग्रहण कर लिया है, जिसके कारण चकोर को उसमें शशि की भ्रान्ति हो जाती है। "रजनी की झाँई बासर में झमकति है।" तथा शिशिर में सूर्य इतनी शीघ्रता से भागता है कि (शीत से डरकर) वह सहस्र कर से सहस्र चरण बन जाता है। जब तक बेचारे चकवा चकवी मिलने भी नहीं पाते तब तक रात हो जाती है। बेचारे आधे मार्ग से ही विलग हो जाते है।

यह अतिशयोक्तिजन्य वर्णन-सौन्दर्य है। विना अतिशयोक्ति के शिशिर के दिन की लघुता का द्योतन हो नहीं सकता था। इतने पर भी सेनापति को संतोष न हुआ। वे फिर कहते हे कि—

"जानियै न जात बात कहत बिलात दिन,"

और—"कलप सी राती" और "सोइ सोइ जागे पै न प्रात पेखियत है,"

इन स्थलों पर वार्तालाप का ढंग लाकर सेनापति ने शिशिर का सुन्दरचित्रण किया है।

शिशिर के पश्चात् पतझड़ के भी कुछ दिन होते है। उन दिनों एक उन्मत्त-सा वातावरण रहता है। उसका भी वर्णन सेनापति ने किया है :—

परे तैं तुसार भयौ झार पतझार, रहीं,
पीरी सब डार सो बियोग सरसति है।
बोलत न पिक, सोई मौन ह्वै रही है आस-,
पास निरजास, नैन नीर बरसति है॥

सेनापति केलि बिन, सुन री सहेली ! माह ,
त्रासन अकेली बन बेली बिलसति है।
बिरह तैं छीन तन, भूषन बिहीन दीन ,
मानहु बसन्त कन्त काज तरसति है॥ ३—५६

इसमें जड़चेतन की परस्पर सापेक्ष दुःखानुभूति का चित्रण है। जब वन की बेली भी अकेली नहीं रह सकती तब चेतन का क्या कहना है ?

इस भाँति हम देखते हैं कि सेनापति का प्रकृति-वर्णन कोरा आडम्बर मात्र ही नहीं है अपितु उसमें प्रकृति-सौन्दर्य की तीव्रानुभूति भी है।

ऋतुवर्णन में सेनापति ने कहीं-कहीं अवश्य कुछ निर्मर्यादित चित्र भी उपस्थित किये हैं जिनमें पूर्णोद्दीपन है, पर ऐसा बहुत कम होने पाया है। यह स्थिति नगण्य सी ही है।

कुछ लोगों का कहना है कि "सेनापति में प्रकृति के प्रति सहानुभूति नहीं है। इनकी प्रकृति में भाव-व्यंजना के स्थल भी कम हैं। इस क्षेत्र में रीतिपरम्परा के कवि इनसे आगे हैं।" हम इस विचार से सहमत नहीं हैं। हमने उपर्युक्त छन्दों में यह दिखाया है कि सेनापति ने प्रकृति के यथार्थ रूप-रंगों को उपस्थित किया है तथा प्रकृति का सूक्ष्म-निरीक्षण भी किया है। धनी और गरीब व्यक्तियों की प्रकृति के प्रभाव में आकर जो स्थिति हुई है उसका वर्णन भी इस बात को सिद्ध करता है कि—सेनापति ने प्रकृति के गम्भीर वातावरण पर सूक्ष्मदृष्टि रखी है। जहां उन्होंने राजवैभव और आमोद-प्रमोद का कारण प्रकृति को बताया है वहां दुःख के कारणों को भी प्रत्यक्ष रखकर वेदना का वर्णन भी किया है। यदि सेनापति को प्रकृति के प्रति सहानुभूति नहीं हो सकती तो—

घन घमण्ड नभ गरजत घोरा।
प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥

कहनेवाले गोस्वामी जी को भी क्या प्रकृति से सहानुभूति हुई, यह कहा जा सकता है ?' सेनापति को प्रकृति के प्रति प्रेम था इसका प्रत्यक्षीकरण और एकात्मीकरण का प्रमाण तब मिलता है जब हम अन्य कवियों से उनकी प्रकृति का साम्य करते हैं—

सेनापति और बिहारी

सेनापति की भांति बिहारी ने भी प्रकृति वर्णन किया है पर स्वल्प। अपनी विविध भावनाओं की उत्तेजना के लिए बिहारी ने प्रसंगानुसार प्रकृति के विविधरूपों का वर्णन किया है। यथा—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं बिकास यहि काल।
अली कली ही सों बिंध्यौ आगे कौन हवाल॥

इस प्रसिद्ध दोहे में, पराग, मधु, विकास, अली, कली आदि वस्तुओं का अंगरूप से वर्णन हुआ है। यह केवल वस्तुयोजना है। इसमें मर्मस्थल को गुदगुदा देने की शक्ति नहीं, जिससे प्रकृति के प्रति रागात्मकता का अभ्युदय हो सके, एक दूसरे स्थल पर—

कुञ्ज-भवन तजि भवन कौ चलिए नन्दकिसोर।
फूलत कली गुलाब की चटकाहट चहुँ ओर॥

इसमें भी केवल प्रकृति में प्रभात का आभास-मात्र दे दिया गया है। हाँ कहीं-कहीं पर प्रकृति के कुछ रूपों का वर्णन भावना के किसी अंग रूप में हुआ है—

यथा—नभ लाली चाली निसा, चटकीली धुनि कीन।
रतिपाली, आली, अनत, आये बनमाली न॥

प्रिय की प्रतीक्षा में निराशनायिका प्रभात वर्णन कर रही है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। परन्तु कहीं-कहीं पर प्रकृतिविषयक स्वतन्त्र अनुराग का परिचय भी इनके दोहे में मिलता है। यथा :—

बैठि रही, अति सघन बन बैठि सदन तन मांह।
निरखि दुपहरी जेठ की छाहौं चाहति छांह॥

जेठ की दुपहरी से घबराकर मानों छांह भी छाह चाहती है। पर सेनापति ने इसी भाव को और भी चित्ताकर्षक बनाकर कहा और अनुभूतिमय भी—

'मेरे जान पौनौं सीरी ठौर को पकरि कौनौ,
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है॥'

और—'सीरक छिपी है तहखानन में जाइ कै'

इनमें जीवन की समता का क्रम और भावाभिव्यक्ति की तीव्रता है। पूस के महीने के दिनों की लघुता के सम्बन्ध में विहारी ने कहा है—

आवत जात न जानिए, तेजहिं तजि सियरान।
घरहिं जमाई लौ घट्यौ खरो पूस दिन मान॥

इसमें विशदता और उचित औपम्य का सम्बन्ध निर्वाहपूर्ण नहीं है। यद्यपि यह भी प्रकृति का स्वतन्त्र चित्र है और व्यावहारिक भी, घर जमाई का मान शीघ्र घट जाता है। पूस का दिन भी उसी की भांति शीघ्र ढल जाता है। पर घर जमाई के साथ पूस के दिन का मेल विशेष अच्छा नहीं लगता। जैसा कि सेनापति के इस छन्द में है—'द्रोपदी के चीर कैसो शीत को महत है।' यहां पर सेनापति ने समान जड़वस्तुओं का कार्य साम्य किया है।

तथा--'दामिनी ज्यौं भानु ऐसे जात है चमकि, ज्यौं न,
फूलन हू पावत सरोज सरसीन के।'
एवम्—'भोर ही को सीत सो न पावत छुटन, ज्यों ही ,
राति आइ जाति है दुखित गन दीन के॥'
और—'दिन मेरे जान सपने में देखियत हैं।'
'जानियै न जात बात कहत बिलात दिन।'

इनमें सूक्ष्मता और साम्य पर पूर्ण ध्यान दिया गया है। साथ ही किसी की अति-हीनता तथा अत्युच्चता द्योतित करने के लिए जिस अनुभूति की आवश्यकता होती है और उसे व्यक्त करने के लिए जिस समर्थ अतिशयोक्ति का सहारा लेना पड़ता है, सेनापति ने उसी को ग्राह्य रखा है। विहारी ने भी अतिशयोक्ति का आश्रय लिया पर उसमें सम्बन्ध-निर्वाह नहीं है। 'जानियै न जात बात कहत बिलात दिन' में स्वभावगत व्याव-हारिकता है।

विहारी के—'छकि रसाल सौरभ सने'
तथा--चुवत सेद मकरन्द कन तरु तरुतर बिरमाय।
आवत दक्षिण देश ते थक्यो बटोही बाय॥

और—'सघन कुञ्ज छाया सुखद'—आदि में प्रकृति के प्रति सहानुभूति पाई जाती है, और सजग कल्पना भी। पर ऐसे स्थल कम हैं। हमारे विचार से तो विहारी और सेनापति के चित्रणों की कोई समता नहीं। सेनापति का चित्रण कवित्त सवैया में है, विशद है विविध भांति का है और संश्लिष्ट है; किन्तु विहारी के दोहे में चित्रण के लिए कम अवकाश है, अतः उसमें प्रकृति का रूपचित्रण संश्लिष्ट नहीं हो सका। वहां क्रमबद्धता की न्यूनता रहगई है।

सेनापति ने प्रकृतिवर्णन में भी लक्षणा और व्यंजना से काम लिया है। विहारी ने भी लक्षणा से काम लिया है, पर व्यंजना से नहीं; विषय की दृष्टि से भी जितना उदात्त और विस्तृतवर्णन प्रकृति का सेनापति ने किया है, विहारी ने इतने परिमाण में प्रकृति-चित्रण नहीं किया है। अतः दोनों में अन्तर होना ठीक ही है। शैली भी दोनों की भिन्न ही है। इतनी ही इनकी समता और विषमता है।

सेनापति और देव

देव का प्रकृति-चित्रण दो रूपों में मिलता है। काव्यगत शृंगारवर्णन में और ऋतुवर्णन के रूप में। प्रकृति के मधुर सुखमयरूपों की अपेक्षा देव का ध्यान उत्तेजक व्यापार पर अधिक था। यद्यपि विहारी की अपेक्षा ये प्रकृति के अति निकट हैं। सूक्ष्म प्रकृतिनिरीक्षण, अनुभूति और चित्रण की शक्ति देव में है, परन्तु सेनापति के समान

स्वतन्त्र अनुराग नहीं; अतः इनका प्रकृतिचित्र भी सेनापति से कुछ न्यून ही है । अन्य विषयों में तो इनकी कल्पनाशक्ति, सूझ-बूझ सेनापति से कहीं-कहीं अधिक उत्तम है। व्यंजना के तो ये भी पण्डित हैं ; किन्तु प्रकृतिवर्णन में जो उल्लास सेनापति के ऋतुवर्णन में मिलता है। वह इनके सुजानविनोद और सुखसागर के बारहमासे और षड्ऋतुवर्णन में कहां। फिर भी इनका प्रकृतिविषयक ज्ञान कम नहीं है। शरद् के वर्णन में :–

आस पास पूरनप्रकास के पगार सूझैं,
बनन अगार डीठ गली ह्वै निवरते।
पारावार पारद अपार दसौदिसि बूड़ि,
विधु बरम्हांड उत शतविधि वरते॥
सारद जुन्हाई; इन्दु पूरन सरूप धाई,
जाइ सुधा-सिन्धु नभ सेत गिरिवर ते।
उमड़ो परत जोतिमण्डल अखण्ड सुधा,
मण्डल मही में इन्दु मण्डल विवरते॥

इसमें देव ने स्वतन्त्ररूप से शरद् श्वेतिमा का वर्णन किया है । यह वर्णन सजीव कहा जा सकता है; किन्तु इसमें मन को रमादेने की शक्ति कम है। सेनापति ने भी शरद्-चन्द्रिका का वर्णन किया है–

उदित विमल चन्द चाँदनी छिटकि रही,
राम कैसो यश अध ऊरध गगन है।
तिमिर हरन भयो सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीरसागर मगन है॥

यह भी प्रकृति का स्वतन्त्रवर्णन है पर सरल और प्रसादगुण पूर्ण। इसमें उत्प्रेक्षा की जटिलता उतनी नहीं जितनी देव में है। 'उमड़ो परत जोतिमण्डल अखण्ड सुधा' की अपेक्षा 'मानहु जगत छीरसागर मगन है' में अधिक स्पृहणीयता है ।

देव—सुधा के सरोवर सों अम्बर उदित ससि,
मुदित मराल मनु पैरिबै को पैठ्यौ है।
बेला के बिमल फूल फूलत समूल मानों,
गगन ते उड़ि उडुगण गण बैठो है॥

इस छन्द में स्वाभाविक दृश्य है, पर उससे भी अधिक नैसर्गिक दृश्य सेनापति का है ।

सरसी निरमल नीर पुनि, चंद चाँदनी पीन।
घन बरसै आकास अस, अवनीरज है लीन॥
अब नीरज है लीन बिमल तारागन सोभा।
राजहंस पुनिलीन सकल हिमकर की जोभा॥

इत सर-वर उत गगन दुहूं समता है परसी।
सेनापति रितुपति सारद अँग-अँग छवि सरसी॥

इसमें वास्तविकसमता के साथ वर्णन की क्षमता भी है। परन्तु वसन्तवर्णन का देव का एक छन्द सेनापति से पूर्ण समता रखता है। इसमें दोनों समकोटि पर आ गये हैं।

देव--डार द्रुम पालन बिछौना नव पल्लव के,
सुमन झिगुला सोहे तन छवि भारी है।
पवन झुलावै केकी कीर बतरावै देव,
कोकिल हलावै हुलसावै करतारी दै॥
पूरित पराग सों उतारा करै राई लोन,
कुन्दकली नायिका लतान सिरतारी दै।
मदन महीप जू को बालक बसन्त ताहि,
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै॥

इसमें वसन्त का बालरूप चित्रित है जो चित्ताकर्षक है। सेनापति ने वसन्त को दूलह के रूप में देखा है—

धर्‌यौ है रसाल मौर सरस-सरस रुचि,
ऊँचे सब कुल मिले गनत न अन्त है।
सुचि है अवनि बारी भयौ लाज होम तहाँ,
भौंरी देखि होत अलि आनँद अनन्त है॥
नीकी अगवानी होत सुख जनवासौ सब,
सजी तेल ताई चैन मैन मयमन्त है।
सेनापति धुनि द्विज साखा उच्चरत देखौ,
बनी दुलहिन बनो, दूलह बसन्त है॥ ३—७

कभी-कभी ऐसा भी अनुमान होता है कि देव सेनापति से कुछ प्रभावित अवश्य थ। क्योंकि देव ने लिखा है :—

आयहौं पैरि प्रभात हिये पर जानि परै कछु ज्योति उज्यारी।
आरसी लै किन देखिए देव जू पाई वहाँ केहि नेह निहारी॥
को बनमाल किधौं मुकतावली, कंचन की रति है रतनारी।
स्याम कहूं कहूं पीत कहूं सित लाल कहूं उरमाल तिहारी॥

इस कवित्त में देव ने खण्डितानायिका का चित्र उपस्थित किया है। और व्यंग्य किया है कि "आरसी लै किन देखिए देव जू।"

ठीक यही भाव सेनापति ने भी व्यक्त किया है-

"आरसीलै नैना आरसी लै क्यों न देखियै।"

भावों की समता में भी दोनों कहीं-कहीं समता में रहते हैं :-

देव—कंचन किनारी झुमकारी मैं करनफूल,
सीसफूल हरि लाल मोतिन उजास को।
देव ज्यों उदित इन्दुमण्डल अखण्ड मुख-
मण्डल के आस-पास मण्डल प्रकास को॥

सेनापति—सेनापति तन मुख सारी की किनारी बीच,
नारी कै बदन आछी छबि रही छनि कै।
पूरन सरद चंदबिंब ताके आस-पास,
मानहुँ अखण्ड रह्यौ मण्डल बिराज कै॥

छवि का छनकर दिखाई पड़ना एक लावण्य का चरमोत्कर्ष है। समानालंकार और समानभाव होने पर भी वर्णन-चातुरी सेनापति में अधिक है—

नींद से उदास सेनापति देखिबे की आस,
तज के बिलास भये बैरागी बिचारे हैं॥ २—१६

देव—योगिनी सी ह्वै रहीं वियोगिनी की अँखियाँ॥

अतः यह अनुमान गलत नही कि देव पर सेनापति का प्रभाव है।

केशव और सेनापति

केशव के काव्य में वह बात नही पाई जाती जो सेनापति के काव्य में है। केशव के काव्य में आचार्यत्व की प्रधानता है, सेनापति के काव्य में कवि की। केशव की कविताएँ बद्धि पर अधिक और हृदय पर कम प्रभाव डालती हैं। सेनापति की कविता हृदय पर अधिक तथा बुद्धि पर कम प्रभाव डालती है।

ऋतुवर्णन में ही इनकी कुछ समता-विषमता देखिए—

केशव ने ऋतुवर्णन में काव्योचित शोभा का वर्णन नहीं किया। वसन्त वर्णन में केशव ने लिखा है—

"शिव को समाज किधौं केशव बसन्त है,"

(और देव ने—माधुरी भौरन अंब के बौरन,
भौंरन के गन मंत्र से बाँचैं"
"सदन-सदन देव मदन दुहाई है")

सेनापति—बरन बरन तरु फूले उपबन बन,
सोई चतुरंग संग दल लहियत है।
बंदी जिमि बोलत बिरद बीर कोकिल हैं,
गुञ्जत मधुप गान गुन गहियत है॥
आवै आस-पास पुहुपन की सुबास सोई,
सोंधे के सुगंध माँझ सने रहियत है।
सोभा कौ समाज, सेनापति सुख साज, आज
आवत बसंत रितुराज कहियत है॥ ३—१

कहां तो शिव का विकृत भूत-समाज और कहां शोभा का साज वसंत! ग्रीष्म-वर्णन में केशव ने लिखा है—

"सवर समूह कैधौं ग्रीषम प्रकाश है,"

इतना कहकर केशव को पूर्ण संतोष भी हो गया। पर:—

"सेनापति ग्रीषम तपत रितु भीषम है,
मानों बड़वानल सौं बारिधि बरत है॥"

वर्णन की कितनी विषमता है दोनों में। प्रकृति ने दोनों को किस भांति प्रभावित किया; इस बात को भी पाठक थोड़े से ही समझ लेंगे।

अन्त में हम फिर यह कहेंगे कि—पं० रामचन्द्रजी शुक्ल का कहना है कि—सेनापतिजी के षड्ऋतुवर्णन में प्रकृतिनिरीक्षण तथा चित्र की सराहनीयमात्रा पाई जाती है। वर्णन सर्वथा अलंकृत और मनोरंजक हैं।

स्वाभाविकता के साथ-ही-साथ उसमें कल्पना-कौतुक और काव्य-कलाकौशल भी अच्छा है। सरसता, मधुरता और व्यंजकता आदि की भी पर्याप्त पुट उसमें लगीहुई है।

इसमें शब्द-चयन भी कौशलपूर्ण और सराहनीय है। प्रत्येक शब्द भावपूर्ण और उपादेय है। एवं वाक्य-विन्यास, अनुप्रास, यमकादि शब्दालंकारों से सुन्दर और सुसज्जित होकर मनोहारी हैं।

पदावली में लालित्य और माधुर्य खूब भरे गये है। अलंकारों की प्रचुरता तथा प्रधानता से भी काव्य में कहीं भी कृत्रिमता नहीं आने पाई। सर्वत्र स्वाभाविकता का स्तुत्य आभास मिलता है। मौलिकता भी प्रायः प्रत्येक छन्द की उक्तियों में स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। "काव्य-कुशल मुक्तककारों में हम सेनापति को एक उच्चस्थान देते हैं और मुक्तक-महाकवि कहने के लिए उत्सुक हैं।"

भक्तिप्रवाह व कवि सेनापति

भारतवर्ष धर्मप्राण देश रहा है। भारतीय जनता की धार्मिक भावनाओं को उद्भूत एवं जागृत करने के लिए समय-समय पर अनेक सन्त-महात्मा अवतीर्ण होते रहे हैं। ये लोग अपनी सुधावर्षिणी-वाग्धारा द्वारा भक्तहृदयों को भक्तिरस से प्लावित करते रहे हैं। व्यावहारिकजीवन में धर्म और भक्ति के व्यापकसिद्धान्तों को अव्यवहितगति से प्रस्तुतकर उनके गूढ़तत्त्वों को सर्वसाधारणोपयोगी बनाकर जीवन में उनका समन्वय करना इन लोगों का कार्य था।

गोस्वामी तुलसीदास जी जैसे विद्वान् सन्तकवि ने अपने युग की निर्मर्यादित स्थिति का गम्भीर अध्ययन करके जनता में भक्ति की सुव्यवस्था एव मर्यादा की रक्षा के लिए राम की शक्ति, शील और सौंदर्य की समष्टि का उत्तमचित्रण किया—जिसका स्थायी प्रभाव तत्कालीन और आधुनिक जनता पर पड़ा। इसी महात्मा ने धार्मिकक्षेत्र की संकीर्णता को उदारता में परिवर्तित कर, भक्ति को प्रेरणा देकर जनता को मंगलपथ की ओर अग्रसर किया। सूरदास जी ने इसी भाति माधुर्यभाव की भक्ति का उपदेशदेकर जनता के जीवन-स्तर को उच्च बनाने में पूर्ण योग दिया।

इन भक्तकवियों का प्रभाव अन्य कवियों पर भी पड़ा। जनता के बीच से पुनः ऐसे कवि उत्पन्न हुए जिन्होंने अपने पदचिह्नों पर चलकर राम, कृष्ण को उपास्यदेव मानकर अनेक काव्यों का निर्माण किया एवं भक्ति की सत्ता के प्रभाव को अक्षुण्ण रखा। भक्ति की इस गोमुखीगंगा के पाप-तापहारी उदक के स्नान-पान से जनता ने जीवन को सफल तथा अपने को तृप्त समझा। मानसिक सन्तोष एवं शान्ति के लिए, भक्ति, जन-जीवन का आलम्बन बन गई। इस भाँति भक्ति-परम्परा की रक्षा होती रही।

जिस समय सेनापति का जन्म हुआ उस समय भक्तिकाल अस्तोन्मुख था और रीतिकाल का अभ्युदय हो रहा था। युग के प्रभाव के कारण ये भी भक्ति-प्रभाव से अछूते न रह सके। यद्यपि सेनापति ने विशेषरूप से रीति-कालीन साहित्य का ही निर्माण किया, फिर भी भक्ति की चेतना इनके काव्य में पाई जाती है।

सेनापति की भक्तिभावना का परिचय कवित्तरत्नाकर की चौथी व पांचवीं तरंग से मिलता है।

प्रथम तरंग में भी कुछ छन्द है; किन्तु उनमें भावजागृतिमात्र है। सेनापति के रामायण तथा रामरसायन वर्णन में भक्तहृदय के भावमय स्वच्छन्दोद्गार हैं।

राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा एवं गंगा-स्तुति-सम्बन्धी कवित्त उनके कवित्तरत्नाकर में विद्यमान है। राम सम्बन्धी सर्वाधिक छन्द है। हो सकता है अन्त में कृष्ण और शिव की ओर भी इनका झुकाव हो गया हो। जिस भांति तुलसीदासजी ने राम और शिव की

साम्योपासना का पथ दिखाया, उसी भांति सेनापति ने भी शिवात्मक छन्दों में राम के महत्त्व का द्योतन किया है—

पढ़ी और विद्या, गई छूटि न अविद्या जान्यौ,
अच्छर न एक, धोख्यौ कयौ तन मन है।
तातैं कीजे गुरु, जाई जगत गुरू कौं जाते,
ज्ञान पाइ जीउ होत चिदानन्दघन है॥
बारानसी जाइ, मनिकर्निका अन्हाइ, मेरौ,
संकर तैं रामनाम पढ़िबे को मन है॥ पां० त० ४४ छंद

यदि इस छन्द का साधारण अर्थ लिया जाय तो यही होगा कि अब मेरा मन बनारस जाने का है, वहां जाकर मणिकर्णिकाघाट पर जाकर स्नान करता रहूँगा और चिद्घनानन्द की प्राप्ति के लिए शंकर भगवान् के सामने रामनाम जपता रहूँगा। इस छन्द से उनका बनारस में रहना सिद्ध हो जाता है। हो सकता है कि उस समय बनारस में शंकर नाम के वेदान्तीपण्डित रहे हों तथा वे प्रख्यात भी रहे हों, जिन्हें गुरु बनाने की प्रबल इच्छा सेनापति की भी हुई, वे उनसे ब्रह्मविद्या, वेदान्तविद्या के ज्ञान को प्राप्त कर रामनाम की सार्थकता और वेदान्ती राम को जानना चाहते हों। क्योंकि जीव का चिद्घनानन्दमय होना वेदान्त की शिक्षा है; या फिर जिस शेषशंकर नाम के पण्डित से गोस्वामी जी ने अध्ययन किया उन्हीं से ये भी रामनाम-महत्त्व को जानना चाहते हों।

शिव की प्रबल प्रार्थना करने पर, तुष्टि के कारण, सेनापति शिव की उदारता का वर्णन करते हैं—

चाहत धतूरे और आक के कुसम द्वै क,
जिन लेत कोई कहूँ भूलि हूँ न हटकै।
सेनापति सेवक को चारि बरदान देव,
देत है समृद्धि जो पुरन्दर के खटकै॥

राम भक्ति

राम का पराक्रम, शौर्य, शक्ति, भक्त-वत्सलता का वर्णन सेनापति ने निपुणता के साथ किया है। राम-भक्ति से वे निडर रहते हैं। जब राम उनका रक्षक है तब उन्हें डर किसका? इसीलिए उनका विश्वास है कि—

मोहिं महाराज आप नीके पहिचानौ, रानी,
जानकीयौ जानैं हेतु लछन कुमार कौ।
विभीषन, हनुमान, तजि अभिमान मेरो,
करैं सनमान जानि बड़ी सरकार कौ॥

एरे कलिकाल ! मोहिं कालौ न निदरि सकै ,
तू तौ मतिमूढ़ अति कायर गँवार कौ।
सेनापति निराधार पाइपोस वरदार ,
हौं तो राजा रामचन्द जू के दरबार कौ ॥ ५ त०२३ छं

राम जिसे भलीभांति जानें, सीतादेवी भी जिसे पहिचानें, लक्ष्मण जिससे अनुराग करें, हनुमान् और विभीषण जिसका सम्मान करें तब भला काल और कलिकाल उसका क्या कर सकते हैं।

राम की इस अनन्तशक्ति के बलपर भक्तहृदय सेनापति को इतना दृढ़-विश्वास है कि राम उसकी विपत्ति का निवारण अवश्य करेंगे। राम के प्रति इस दृढ़ता की आस्था के भाव ने सेनापति को सांसारिक कष्टों पर विजय पाने का बल दिया। सेनापति ने कहा है कि मैं न तप करता हूँ, न जप करता हूँ, न नियम पालन करता हूँ, न पञ्चाग्नि-साधन करता हूँ, न तीर्थों पर भटकता हूँ। मै तो—

'सोवे सुख सेनापति सीतापति के प्रताप,
जाकी सब लाजें पीर ताहि रघुवीर ही।' ५ त० १४ छ०

तब वह डरे भी क्यों ? जिसका स्वामी चौदहोंभुवन का अधिपति हो।

"मेरे सोहि है सहाव राव चौदहभुवन को।"

भक्तहृदय को तो आठोपहर अपने उपास्यदेव के चरणों की ही आशा रहती है, उसे तो और कोई निर्भयठौर ही नही सूझता—

कीनौ है प्रसाद, मेटि डार्‌यौ है विषाद दौरि,
पाल्यौ प्रह्लाद, रच्छा कीनी दुरदन की।
दोनन सौ प्रीति, तेरी जानी यह रीति सेना-
पति परतीति कीनी तेरियै सरन की॥
कीजै न गहर, बेगि मेरो दुख हर, मेरे,
आठहूपहर आस रावरे चरन की।
सूझत न और कोई निरभय ठौर राम,
देव सिरमौर, तौ लौं दौर मेरे मन की॥

भक्तहृदय की दौड़ और हो भी कहाँ तक सकती है। शरण है तो राम की, त्राण मिलेगा तो राम से। जीवन की उत्तमता का तात्त्विक और सात्त्विक दृढ़-विश्वास ही भक्ति की तल्लीनता है।

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते" की शिक्षा का भी तो यही प्रभाव हो सकता था कि भक्त कहे—

'सेनापति ईश बिसे बीस मोंहि महाराज,
तेरोही भरोसो दशरथ चक्रवर्त्ति के।'

तथा—'जाके सिर पर आज राखत है महाराज,
ताहि कहो परी परवाह कौन बात की'...

यह निर्द्वन्द्वता सेनापति में भक्ति की दृढता के कारण ही आ सकी, इसीलिए उनके हृदय के उद्‌गार सच्चे, सरल और स्वाभाविक ढंग से व्यक्त हुए हैं। आचार्य शुक्लजी के शब्दों में "इनके भक्तहृदय से निकलेहुए उद्‌गार सच्चे, सरल, बडे ही अनूठे और मार्मिक हैं। रामचरितसम्बन्धी रचना बड़ी ही ओजस्विनी और मर्मस्पर्शी है।"

भक्ति की भावना के लिए हृदय की सत्यता प्राथमिक है। क्योंकि—

"साँचे से तो जग नहीं, झूठे मिले न राम" निष्कपटहृदय के सहजव्यापार में वह दैवीशक्ति है जो सात्त्विकबुद्धि का विकास करती है और फिर 'सियाराममय सब जग जानी' की भावना उद्‌भूत होने लगती है। सेनापति में हृदय की सत्यता सर्वत्र पाई जाती है। कबीर के 'कर का मन का छाँड़ि दे, मन का मन का फेर' की भाँति ये भी मन का, मन का फिराने को सुन्दर मानते हैं। नाभि में कस्तूरिका को न जानकर इधर-उधर भटकनेवाले मृगरूपी-व्यक्तियों को सेनापति भी उत्तम नहीं समझते। ऐसे लोगों के प्रति वे कहते हैं—

निगमन हेरि, समुझाइ मन फेरि राखु,
मन ही को घेरि रूप देखि मचलत है।
सेनापति देखु राम, तो ही मैं अलेख, धरि,
भगत को भेष कत विस्व कौं छलत है॥
तोरिमरौ पाउ करौ कोटिक उपाउ, सब,
होत है अपाउ भाउ चित्त कौं फलत है।
हिय न भगति. जातैं होत शुभगति, तन,
तीरथ चलत मन तीरथ चलत है॥ ५ त० ३२ छ०

नामस्मरण का माहात्म्य, चरणस्पर्श का प्रभाव, कीर्तन और पादसेवन ये नवधाभक्ति के अन्तर्गत हैं। इनके कारण मुक्ति कितनी सुलभ है इसका उदाहरण अहिल्या है। जिस समय सेनापति का ध्यान अहिल्या की ओर जाता है। उस समय उनकी प्रगाढ़ भक्ति और भी प्रौढ़ हो जाती है। अपने उपास्यदेव के प्रति उनके मन में सन्देह का अवकाश ही नहीं रह जाता। आत्मसाक्षात्कार की, एकात्मता की आधार-भूमि पर वे जा खड़े होते हैं, जहाँ आत्म-निवेदन में साम्यानुभूति होती है। शक्ति और शील की चरमोत्कर्षता के कारण प्रभु के प्रति अनुरक्ति की वृद्धि होती रहती है।

'राम महाराज धरि विरद की लाज, सोई,
साजि कै जहाज कौं निबाहि पार करि हैं।'
तथा—तू है निरबान कौं निदान ज्ञान ध्यान करै,
तेरो चतुरानन, बसैया नाभि भौन कौं।

सोई सिरजनहार, भार कौं धरनहार,
तू है प्रभु पाउक पुहुमि पानि पौन कौं ॥
दीजियै न पीठि इत कीजियै दया की दीठि,
सेनापति पाल्यो है तिहारे एक लौन कौं।
आपु ही कृपाल पालौ राम भुवपाल और,
दूसरौ न तासौं पैडौं देखत हौं कौन कौं ॥

इस विश्वास की पुष्टि के लिए अहिल्या की ओर उनका ध्यान जाता है—

पति के अछृत सुरपति जिन पति कीनौ,
जाके नख-सिख रोम-रोम भर्‌यौ पाप है।
देह द्युति गई, तई बन में पखान भई,
लाग्यौ बिकराल रिषिराज को सराप है ॥
सोई है अहिल्या सिय सिवा के समान भई,
पतिव्रत पाइ पायौ सती कौ प्रताप है।
सेनापति बेद मैं बखानि तीन लोक जानि,
सो तो महाराज रामचन्द को प्रताप है ॥

इस भाँति सेनापति की दृढ़-विश्वास की भावना का परिचय स्थल-स्थल पर मिलता है। विभीषण में, हनुमान् में तथा अन्य भक्तों में उन्हें राम की शक्ति काम करती हुई प्रतीत होती है। उन्हें यह पूर्ण विश्वास हो गया है कि भगवान् की शक्ति के कारण ही भक्त असंभव को संभव कर सकता है। फिर तो सेनापति का मन "भृङ्गकीट" न्याय का अनुसरण करने लगता है। राम की पराक्रम-सम्पन्न मूर्ति विश्व-कल्याणकारी के रूप में प्रति क्षण उनके सामने रहती है। वे उसे भूल भी कैसे सकते—

* * * *

कंज के समान सिद्धि मानस-मधुप निधि,
परमनिधान सुरसरि मकरंद के ॥
सरजू बिहारी, रिषिनारी तापहारी, ज्ञान-
दाता हितकारी सेनापति मतिमंद के।
बिश्व के भरन, सनकादि के सरन, दोऊ-
राजत चरन महाराज रामचन्द के ॥

एवम्—भूषित रघुबर बंस, भक्त-वत्सल भव खण्डन,
मुनि-जन-मानस हंस, विहित सीता मुखमंडन।
त्रिभुवन पालन धीर, बीर रावन मदगंजन,
उदित बिभीषन भाग, धेय निज परिजन रंजन।

सुरपति, नरपति, भुजगपति, सेनापति बंदित चरन,
राजाधिराज जय, जय, सदा राम विश्व-मंगल-करन ॥

तन्मयता की भावना का प्रत्यक्षीकरण उनके इस छन्द से होता है—

देव दयासिन्धु, सेनापति दीनबन्धु सुनौ,
आपने बिरत तुम्हैं कैसे बिसरत हैं।
तुम हीं हमारे धन तोसौं बांध्यो प्रेमपन,
और सों न माने मन, तोहिं सुमिरत हैं ॥
तोहि सों बसाइ और सूझे न सहाइ,
हम यातैं अकुलाइ पांइ तेरेई परत हैं।
मानौ कै न मानो करो सोई जोकि जिय जानौं-
हम तौ पुकार एक तोहि सौं करत हैं ॥

इस भांति हम देखते हे कि सेनापति राम के प्रबलभक्त थे।

उनकी तल्लीनता में तात्त्विकता पाई जाती है। रामप्रताप वर्णन में उन्होंने उत्तमातिउत्तम छन्द लिखकर अपने भक्तहृदय को व्यक्त किया है। इस प्रसंग में इतना ध्यान अवश्य रखना होगा कि उन्होंने अपनी प्रवृत्ति समस्त रामजीवन कथा-वर्णन की ओर नही रखी। वे स्वयं लिखते हे कि—

गाई चतुरानन सुनाई ऋषि नारद कौं,
संख्या सतकोटि जाकी कहत प्रबीने है।
नारद तै सुनि बालमीकि, बालमीकि हूं तैं,
सुनी भगतन, जे भगतिरस भीने है ॥
एती राम कथा, ताहि कैसे कै बखानैं नर,
जातैं ए बिमल बुद्धि बानी के बिहीने हैं।
सेनापति यातैं कथा-क्रम कौं प्रनाम करि,
काहू काहू ठौर के कवित्त कछू कीने हैं ॥

शिवधनु-भंग, सीता-परिणय, सीता-हरण तथा राम-रावण युद्ध एवं रावण-मरण तक का स्वल्प-वर्णन सेनापति ने मुक्तक के रूप में राम-रसायन वर्णन में दिया है। उनका यह वर्णन अपने ढग का अनुपम है।

सेनापति ने रामभक्त होने पर भी धार्मिक भक्ति-भावना के क्षेत्र में तुलसीदास जी ने जैसी उदारता और साम्प्रदायिकता के अभाव का परिचय दिया है। राम-भक्ति सम्बन्धी छन्दों की तल्लीनता के समान ही शिव, गंगा और कृष्ण सम्बन्धी छन्द भी लिखे। अपनी प्रखर-प्रतिभा के बल से सभी चित्रणों में सफल रहे।

कृष्ण भक्ति

प्रायः ऐसी परम्परा भक्तों में देखी गई है कि जो लोग उच्चकोटि के भक्त रहे हैं और जिनकी भाव-भूमि का विस्तार हो चुका, उन लोगों ने सांप्रदायिकता का संकुचित दृष्टिकोण त्यागकर सभी देवी-देवताओं को समानरूप से देखने का सफल प्रयास किया। गोस्वामीजी तो इसके प्रमाण ही हैं। सूरदासजी की भी ऐसी ही स्थिति रही है। भारतीय पञ्चदेवोपासना का प्रभाव भक्तकवियों पर रहा है।

सेनापति को भी संप्रदाय-विशेष से द्वेष-विराग न था जो उनकी ज्ञानगरिमा का प्रतिफल था। ज्ञान एवं भक्ति के वातावरण में तो—

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लालो देखन में गई कि हो गई लाल ही लाल॥

और 'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है' की भावना व्यापकरूप धारण कर लेती है। भक्त को सर्वत्र भगवान् की असीमकरुणा का दृश्य दिखाई पड़ता है। दीनबन्धु और दीनानाथ, शरणागतपालक का रूप उसे सभी अवतारों में ज्ञात होता है। भगवान् की करुणामयीशक्ति के समक्ष अत्याचारी-शक्तियों को वह निरन्तर-पराभूत होते देखता है। उसे यह प्रत्यक्ष दृष्टिगत होने लगता है कि प्रार्थना के लिए दो करों के बढ़ते ही सहायता के लिए सहस्रों कर उठ जाते हैं। "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्" की धारणा बलवती होती है और आत्मरक्षा का बोध होने लगता है।

सेनापति ने दृढ़ता के साथ कहा है कि—

अति अनियारे, चन्द्रकला से उजारे,
तेई मेरे रखवारे नरसिंह जू के नख हैं॥

भक्तवत्सलता की अनुभूति भक्त में दैन्यभाव का संचार भी कर देती है। नारायण की महत्ता और अपनी क्षुद्रता का विचार उसे आत्मनिवेदन की सीमा तक पहुँचा देता है। जिसमें भक्तहृदय की निष्कपटता और अपरिमेय-आनन्द का बोध एवं चिद्घनानन्द की सत्ता की उपलब्धि प्रभु के चरणारविन्दों में ही उसे विदित होती है। सेनापति ने लिखा है—

* * * *
अगम, अपार, जाकी महिमा को पारावार,
सेवै बारबार परिवार सुरपति कौं॥
तीन लोक नाइक है, बेद गुन गाइक है,
सरन सहाइक है सदा सेनापति कौं।
जगत कौं करता है, धराहू कौं धरता है,
कमला कौं भरता है हरता बिपति कौं॥

श्रीकृष्ण के सुदर्शनचक्र का भी उन्हें विश्वास है। प्रह्लाद के दुःखदलन और उद्धार की बात, द्रोपदी के चीरहरण की कथा, गजग्राह के उपाख्यान आदि में भक्त-रक्षण के विधान का महत्त्व सेनापति के हृदय को विमुग्ध कर देता है। ऐसे सहायक को पाकर वे अपने मन से उसी का हो जाने की बात कहते हैं—

श्री वृन्दावन चंद, सुभग धारा धर सुन्दर,
दनुज बंस-बन-दहन, बीर जदुबंस पुरन्दर।
अति बिलसति बनमाल, चारु सरसीरुह लोचन,
बल बिदलित गजराज बिहित बसुदेव बिमोचन।
सेनापति कमला हृदय, कालिय फन भूषन चरन,
करुनालय सेवै सदा गोबरधन गिरिबर धरन॥

[illegible]-जोर जलचर अति क्रुद्ध करि जुद्ध कीनौ,
वारन कौं परी अनिवार दुख दंड की।
ह्वैकै नकपानी दीन-बानी को सुनाइ जौलौं,
लैकै कर पानी पूजा करै जगबंद की॥
तौलौं दौरि दास की पुकार लाग्यौ दीनबंधु,
सेनापति प्रभु मनहू की गति मन्द की।
जानि न परत, न बखानी जाति कछू ताही,
पानी में प्रकट्यौ किधौं बानी में गयन्द की॥

* * * *

प्रह्लाद की रक्षा—पाल्यौ प्रहलादै जिन ज्यायौ भांति सौं भली,
पावै सुख साजै, जग मध्य सो बिराजै सो,
मिटावै जमराजै रोग दोष की कहां चली—इत्यादि।

द्रौपदी की रक्षा—पारथ की रानी, सभा बीच बिललानी, दुसा-
सन अभिमानी दौरि गही केस पास मैं।
तबही बिचारी सारी खैंचत पुकारी कान्ह,
कहां हौ परी हौं नीच लोगन के त्रास मैं॥
सेनापति त्योंही पट कोटिक उपटि चले,
चारिउ बेद उठे जस गाइ कै अकास मैं।
बैरिन के बास मैं, बिपत्ति के निवास मैं,
जगन्निवास बासमैं दिखाई प्रीति वा समैं॥

और द्रौपदी ने जैसे ही कृष्ण को पुकारा तो—

"ह्वै गए बसन हरिनाम के समान ही।"

हरि के सहस्रनाम के समान सहस्रों वस्त्र वहां पर उपस्थित हो गये।

'मन बहिराऊँ मन ही मन रिझाऊँ, बीन लैके कर गाऊँ गुनवाही परबीन के' की भावना की तीव्रता में फिर सेनापति को हरिभक्ति ही मुक्ति-दायिनी जान पड़ती है।

और न जुगति जासों होति आज गति,
देति भुगति मुकति हरि भगति हरे हरे।
× × × ×
अब हूं तू चेत मन, सीस भयो सेत,
सेनापति सिख देत जप हेतु सु हरे हरे॥

भक्त-हृदय की अन्तश्चेतना जब प्रभु की अनन्तशक्तियों को देखकर उसी में तदाकार हो जाना चाहती है तब उसमें अनुभूतियों की सचाई निहित होने लगती है और वह जीवन के उस तत्त्व तक पहुंच जाता है जहाँ "भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः" की स्थिति होती है।

जीवन हमारो जग जीवन तिहारे हाथ,
सेनापति नाथ न रुखाई मन आनियै।
तेरे पगन की धूरि मेरे प्रानन की मूरि,
कीजै लाल सोई नीकी जोई जिय जानियै॥ ५—२०

आत्म-समर्पण की यह भावना भक्ति की प्रबलता ही है। भक्ति के आधिक्य से सेनापति कह बैठते हैं कि—

पान चरनामृत कौं गान गुन गनन कौं,
हरि कथा सुनि सदा हिय कौ हुलासिबौ।
प्रभु के उतीरन की गूदरी यों चीरन की,
भाल, भुज, कंठ, उर-छापन कौं लसिबौ॥
सेनापति चाहत है सकल जनम-भरि,
बृन्दाबन सीमा ते न बाहर निकसिबौं।
राधा मनरंजन की सोभा नैन-कंजन की,
माल गरे गुञ्जन की कुञ्जन कौं बसिबौ॥

सेनापति की यह भावना रसखान की उस भावना से साम्य रखती है जिसमें रसखान कहते हैं कि —'या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूंपुर को तजि डारौं। यदि वृन्दावन में रहने का अवकाश मिला तो।

निर्गुण संप्रदायवालों की उक्तियों जैसी उक्तियां भी सेनापति की भक्ति-भावमयी कविता में पाई जाती हैं। परन्तु यह युग का प्रचलित प्रवाह है। योगियों की वृत्तियों का संकेत सेनापति ने भी किया है। उस समय ऐसी एक धारा ही सी थी जिसका अंश प्रायः सभी कवियों की रचना में पाया जाता है। मीरा जैसी वैष्णव, जो प्रेम के उच्चासन पर आसीन थी, वह भी मंत्र तंत्र हठयोग की बातें कह गई है। अनहद, निरंजन, षट्चक्र की

चर्चा प्रायः उस समय में चलती ही रहती थी। रीतिकाल में इस प्रकार की भावना का होना उसी प्रभाव का ही द्योतक है।

धातु सिलादार निरधार प्रतिमा कौ सार,
सो न करतार तू बिचारि बैठ गेह रे।
राखु दिठि अन्तर कछू न सून अन्तर है,
जीभ को निरन्तर जपाउ तू हरे हरे॥
मंजन बिमल सेनापति मनरंजन तू,
जनि कै निरंजन परमपद लेह रे।
कर न सँदेह रे कही मैं चित्त देह रे!
कहा है बीच देहरे! कहा है बीच देह रे!!

सेनापति कृष्णकी लीलाओं और उनकी दुष्ट दमनकारिणीशक्ति से इतने प्रभावित थे कि वे सर्वस्व त्यागकर, सामाजिक बन्धनों को तोड़कर लोक-लज्जा को ठुकराकर वृन्दावन की कुञ्जों में किसी वृक्ष के नीचे रहना श्रेयस्कर समझते हैं।

आवै मन ऐसी घरबार परिवार तजो,
डार्यों लोकलाज के समाज बिसराय कै।
हरिजन पुञ्जनि मैं, बृन्दाबन कुञ्जनि मैं,
रहो बैठि कहूँ तरुवर तर जाइ कै॥

श्रीकृष्ण सम्बन्धी छन्दों के अवलोकन से सेनापति की कृष्णपरकभक्ति प्रबल विदित होती है। सेनापति कहते हैं कि—मुझे सुख मिले या दुःख, चाहे मैं किसी भी दशा में रहूँ, मुझे यश अपयश की भी कोई चिन्ता नहीं, किसी बात के लिए कोई मेरी सहायता करे या न करे इसका भी मुझे दुःख नहीं, पर मैं तीनलोक के नायक हरिराय से दूर रहना नहीं चाहता। वही मेरे जीवन की प्राणप्रद शक्ति है। मैं तो हरि के प्रेम में मग्न रहना चाहता हूँ।

सुख सरसाउ किधौं दुख में बिलाइ जाउ,
जैसी कछू जानौ तैसी होइ गति काइ की।
जग जस कहौं किधौं जाइ अपयश कहौं,
नाहीं परवाह काहू बात के सहाइ की॥
और हौं न चाहौं चित्त चाहत हौं ताहि नित,
सेनापति जाकी तीनिलोक इक नाइ की।
छूजियौ न दूरि मेरे जिय की अमर मूरि,
रहौं भरपूरि एक प्रीति हरि राय की॥

यही भावना सूरदास और तुलसीदास जी की भी अपने उपास्य के प्रति रही है।

'तुम तजि और कौन पै जाऊँ।'
'मेरो मन अनत कहाँ सचुपावै ॥' (सूर)

यद्यपि सेनापति में गोस्वामी जी की सी भक्ति-भावना का रूप नहीं है और न भक्ति की वैसी व्यापक व्यंजना है फिर भी यह बात निर्विवाद है कि उन्होंने भगवान् के जिस आंशिकरूप को ग्राह्य मानकर अपने हृदय के भाव व्यक्त किये हैं उनमें भक्ति का अनुराग पूर्ण है और उसके चित्रण में सेनापति सफल रहे हैं। वह वृद्धावस्था में गंगा तट-पर जाकर गगाजल की महिमा और शरीर की नश्वरता के विषय में कहते हैं :—

कीनौ बालपन बालकेलि में मगन मन,
लीनौ तरुनाई तरुनी के रस तीर कौ।
अब तू जरामैं पर्‌यौ मोह पींजरा मैं,
सेनापति भजुरामैं जो हर्‌यौ है दुख पीर कौ ॥
चितहि चिताउ भूलि काहू न सताउ, आउ,
लोहे कैसो ताउ न बचाउ है शरीर कौ।
लेह देह करिकै पुनीत करि लेह देह,
जीभै अबलेह देह सुरसरी नीर कौ ॥

भक्ति की प्रबलता के कारण ही सेनापति के दृढ़विश्वास ने उन्हें गर्विष्ठ भी बना दिया।

तुम करतार जन रच्छा के करनहार,
पुजवनहार मनोरथ चित्त चाहे के।
यह जिय जानि सेनापति है सरन आयौ,
हूजिये सरन महा पाप-ताप दाहे के ॥
जौ कौहू कहा कि तेरे करम न तैसे, हम-
गाहक हैं सुकृति भगति रस लाहे के।
आपने करम करि हौ ही निभहौं गो तौब,
हौ ही करतार करतार तुम काहे के ॥ ५—२६

और भी कई ऐसे छन्द है जिनमें भक्ति के क्षेत्र में भी उनकी गर्विष्ठ-प्रकृति पाई जाती है।

शिव भक्ति का प्रवाह

शिव की दानशीलता और औढरदानित्व पर सेनापति का यह विचार होता है कि शिव कितने उदार है जो एक बिल्वपत्र की प्राप्ति पर चतुवर्ग फल प्राप्ति का

अधिकारी बना देते हैं। अन्य देवता जिस अर्क (मदार) और धतूरे को नगण्य समझकर उसे छूते तक नहीं, शिव उसी को ग्रहण करता है। इन्हीं नगण्य-वस्तुओं के चढ़ाने से वे इतने प्रसन्न हो जाते हैं और ऐसी समृद्धि देने लगते हैं जो इन्द्र को भी खटक जाती है।

सोहति उतङ्ग, उत्तमङ्ग ससि संग गङ्ग,
गौरी अरधङ्ग, जो अनङ्ग प्रतिकूल है।
देवन कौ मूल सेनापति अनुकूल कटि-
चाम शारदूल कौं, सदा कर त्रिसूल है॥
कहा भटकत! अटकत क्यौं न तासौं मन,
जातै आठसिद्धि नवनिद्धि रिद्धि तू लहै।
लेत ही चढ़ाइबे कौं जाके एक बेलपात,
चढ़त अगाऊ हाथ चारिफल फूल है॥
तथा—हित उपदेश लेइ छाड़ि दै कलेस सदा,

* * * *

चाहत धतूरे अस आक के कुसुम द्वैक,
जिनैं लेत कोई कहूँ भूलिहू न हटकै॥
सेनापति सेवक कौ चारि वरदान, देव,
देत हैं समृद्धि जो पुरन्दर कौ खटकै॥

प्रथम तरंग के ३८वें छन्द में सेनापति ने एक श्लेष-द्वारा कृष्ण और शिव की समता अत्यन्त निपुणता के साथ की है। शिव और कृष्ण की समता के संस्कृत में अनेक प्रयोग हैं।

(वृन्दा पितृ गहन चरौ, कुसुमायुध जनन हनन शक्तिधरौ, अरि शूल लाञ्छित करौ, भीति में हरि हरौ हरताम्।) (पण्डितराज)

सदानन्दी जाकौ आसा कर है विराजमान,
नीकौ घनसार हू तै बरन है तन कौं।
सैन सुख राखै सुधा दुति जाके सेखर है,
जाके गौरी की-रति जो मथन मदन कौं॥
जो है सब भूतन कौं अन्तर निवासी रमै,
धरै उर भोगी भेष धरत नगन कौं।
जानि बिन कहैं जानि सेनापति कहे मानि,
बसुधा उमाधव कौं भेद छाँड़ि मन कौं॥

इसमें "पातु वो माधवः की भावना है। बहुधा उ, माधव को, और बहुधा उमा धव को

तोड़ने से स्पष्ट ही शिव एवं कृष्ण अर्थ में घटित हो जाता है। इस साम्य प्रदर्शन में भाव बाधा नहीं आने पाई।

गंगा के प्रति

गंगा वर्णन की पद्धति भी सेनापति के पूर्व, प्रचलित थी, और उसकी मान्यता का युग भी इसीलिए बना रहा कि भारतीय संस्कृति में उसे तरण-तारिणी, पतित-पावनी के रूप में भक्ति-मुक्ति का साधन माना गया है।

गंगा गंगेति यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥

इस प्रकार की बद्धमूल आस्था के कारण ही गंगा के तटों पर भारतवर्ष में आज भी मेले लगते हैं और उन मेलों का प्रधान उद्देश्य गंगास्नान से मुक्ति प्राप्ति ही है। भक्ति भावना से प्रेरित होकर ही गंगा की स्तुति सर्वश्रेष्ठ और उच्चभावपूर्ण पण्डितराज जगन्नाथ ने की है। जिसमें गंगा को स्वर्गप्राप्ति का साधन, रोग-व्याधि दूर करने का उपाय, मानसिक शान्ति की सिद्धिदायिनी और जीवन को पवित्र करने का लक्ष्य माना गया है। सगर के साठ हजार पुत्रों का उद्धार करनेवाली गंगा की कथा पर मुग्ध होकर कवियों ने गंगा को शान्तरस की उपलब्धि का साधन भी समझा। पण्डितराज जी ने तो 'गंगालहरी, लिखकर अपनी श्रद्धा भी प्रकट की। सेनापति ने भी गंगा के रूप और माहात्म्य पर मुग्ध होकर कुछ छन्द लिखे। इन छन्दों में उनकी वर्णन-शैली अपेक्षाकृत उन रीतिकालीन कवियों से भिन्न रही जिन्होंने गंगावर्णन प्रकृतिवर्णन की दृष्टि से किया। सेनापति ने उसका पारमार्थिक रूप ही लिया है। सेनापति ने गंगा को रामप्राप्ति का साधन भी बताया है। वह अंधे की लकड़ी है, जिस के सहारे नेत्रहीन अपने लक्ष्य तक सुगमता से पहुंच सकता है।

शिव शिर पर विराजमान गंगा की पतितपावनी शक्तिपर सेनापति की बड़ी श्रद्धा थी, वे कहते हैं कि संसार से चले जाने के पश्चात् सब से बड़ा भय यमदूतों से लगता है। किन्तु गंगा अपने दिव्य प्रभाव के कारण पतितजनों को भी यमदूतों के भय से मुक्त कर देती है। उस सुरसरि की समानता कौन कर सकता है जिसके जल का बिन्दुमात्र भी पाप-पुञ्ज को लुञ्ज-पुञ्ज कर देता है।

यह सरबस चतुरानन कमण्डल कौं,
सेनापति यह चरनोदक है हरि को।
यह ईस सीस हू की सोभा है परम, साढ़े-
तीन-कोटि तीरथ मैं याकी सरबरि को?

छाँड़ि देह तप तू, भुलाइ डार सबै जप,
कौन की है चप तोही तेरौ और अरि को ?
मेटि जम दुंद, द्वार नरक कौ मूँद, बेनी-
मैनका की गूँद, बूँद पीके सुरसरि को ॥ ५–५२

तथा—कोई पातकी पर्‌यौ हो जाइ मगह मैं,
सो तो बांधि डार्‌यौ बीच नरक समाज के ।
कीनौ गर-जोरि और नारकीन बीच धरि,
जे हैं निसि बासर करैया पाप काज के ॥
ताही कैं करंके सेनापति गंगन्हैयन कौं
लागत पवन जान आए सुर साज के ।
सांकरैं कटाइ जमदूत रपटाइ सोइ
लै चल्यौ छुटाइ बंदीवान जमराज के ॥ ५–५३

एवम्—थोक नसैं पापन के दोक जल कण चाखे,
श्रोक भरि पियैं लोक जीतें जमराज के ॥

सेनापति कहते हैं कि राम के चरणारविन्दों की प्राप्ति का कलियुग में कोई सरल उपाय है तो केवल गंगा ही है ।

राम पद संगिनी तरंगिनी है गंगा, तातैं,
याहि पकरे तैं पाय राम के पकरिये ।
भीजे जाके वारि पद पावै दानवारि पद,
सेनापति नै करि विनै करि जौ पूजिये ॥
देखैं सुर-सिंधुरन, चढ़ै सुर-सिंधु रन,
कूलपानि हू पियै त्रिसूलपानि हू जिये ॥

सेनापति गंगा-जल-पीने पर "त्रिशूल पाणि" शिव के समान होने का विश्वास रखते हैं और गंगाजल में भीजनेमात्र से ही इन्द्र-पदवी की प्राप्ति को भी सुलभ समझने लगते हैं।

सेनापति का दृढ़ विश्वास है कि शारीरिक समस्त उपद्रवों को और मानसिक आधियों को शान्त करने की शक्ति गंगाजल में विद्यमान है । शिव को जीवित रखने का कारण भी गंगाजल ही है । यदि गंगारानी की जलधार का उपयोग शंकर न करते तो सम्भवतः वे जिस परिस्थिति में थे, जीवित भी न रह सकते, कारण कि उनके कण्ठ में तो कराल कालकूट है । वक्षःस्थल पर व्यालमाला है, जिसके विष-मिश्रित श्वास से प्राणनाश होता है । ललाट का तृतीयनेत्र भीषणज्वाला का पुञ्ज बना हुआ है । इतने विषम और घातक पदार्थों के संघात से तो शिव कभी के गोलोकवासी हो गये होते पर गंगाजल की ही ऐसी शक्ति है जो उन्हें प्राण दे रहा है ।

काल तैं कराल कालकूट कंठ माँझ लसै,
व्याल उरमाल, आगि भाल सब ही समैं ।
व्याधि के अरंग ऐसे व्याधि रह्यौ आधौ अंग,
रह्यौ आधौ अंग सो शिवा की बकसीस मैं ॥
ऐसे उपचार तैं न लागती बिलात बार,
पै यती न बाकी तिल एकौ कहूं ईस मैं ।
सेनापति जिय जानी सुधा तैं सहस बानी,
जो पै गंगारानी कौं न पानी होतौ सीस मैं ॥

गंगा के स्नानमात्र से दर्शन और स्पर्शमात्र से प्राणी विष्णुपद को प्राप्त हो सकता है । यह बात हिन्दू धर्म के अनुयायियों के लिए ही नहीं सेनापति ने तो मुसलमानों को भी बताया कि यदि वे 'नबी' के पास जाना चाहते हैं तो गंगास्नान करें ।

सांची कहौं हिन्दू कि मुसलमान राउरे,
न्हाइकै बिसुन-पदी, जाह तू बिसुन-पद,
जाहनवी न्हाइ जाह 'नबी' पास बाउरे ॥ ५—६६

५वीं तरंग के ६१वे छन्द में सेनापति ने लिखा है कि गंगास्नान करने से क्रोध की न्यूनता होती है । मोह मिट जाता है । गंगाजल को देखकर ही व्यक्ति की दरिद्रता दूर हो जाती है । वह सर्व-सम्पत्ति प्राप्त करता है । गंगा धर्म का आधार है । उसकी धारा कामधेनु के समान है ।

यह तो त्रिपथगा है, जाने त्रिभुवन पथ,
याते सुरपुर पहुंचावति है पल में,

इतनी शक्ति गंगा में ही है । इसीलिए मरकर भी लोग गंगा में डाले जाते हैं ताकि उन्हें गंगा शीघ्र स्वर्ग तक ले जाय ।

यदि गंगा पतित-पावनी न होती और उसमें स्वर्ग तक पहुंचाने की शक्ति न होती तो राजा भगीरथ को क्यों इतनी साधना करनी पड़ती और भगवान् विष्णु क्यों उसे अपनी विभूतियों में गिनते ?

रामजू की आन कोई तीरथ न आन, देख्यौ,
गंगा के समान हो तो बेद तौ बतावतौ ।
सम सरिता की, जौब होती सरि ताकी तौब,
याही को कन्हैया क्यों बिभूति में गनावतौ ॥
सगर-कुमारन कौं सेनापति तारन कौं,
तीरथ जौ कोऊ सुरसरि सम पावतौ ।
गंगा ही के अरथ भगीरथ विरथ ह्वै तौ,
काहे को विरथ तप करि तन तावतौ ॥ ५—५९

इस भांति कई युक्ति और आधारों को समक्ष रखकर सेनापति गंगा की शक्ति को देखकर अपने हृदय पर पड़े हुए प्रभाव का संवरण न कर सके और उनके भक्त हृदय की भावना पावनी-गंगा का वर्णन करने में स्वयं भी पावनी हो गई।* पुष्पाङ्कित छन्दों से सेनापति की गंगाभक्ति का साम्य मिलता हुआ है।

साम्य-वैष्णव भक्ति।

संस्कृत साहित्य में एक धारा प्रचलित हुई जिसमें द्व्यर्थक छन्दों में भक्ति साम्य होता था, राम, कृष्ण किंवा राम, शिव अथवा शिव, कृष्ण विषयक भक्तियुक्त छन्द समानार्थ होते थे। यथा–

शशि खण्ड मौलि, स-शिखण्ड मौलि वा,
शितमेघ चारु सित-मेघ चारु वा।
उमया विलासी रमया विलासी वा,
ममकिञ्चिदस्तु हृदि वस्तु संततम्॥

तथा—जाह्नवी मूर्ध्नि पादे वा कालः कण्ठे बपुस्यथ।
कामारिं कामतातं वा कञ्चिदेकं भजाम्यहम्॥

और—स पूतनामारणलब्धख्यातिर्यशोदयालं कृतदिव्यमूर्तिः
.....नाथो रघूणामथवा कुरूणाम्॥

इस शैली का अनुसरण अनेक कवियों ने किया है। हिन्दी में यद्यपि इस प्रकार की शैली के कवि कम हैं; किन्तु प्रभाव कुछ न कुछ हिन्दी पर भी उसका पड़ा। सेनापति

---

*जगदन्धान् पङ्गून् प्रकृतिबधिरानुक्तिविकलान्।
ग्रहग्रस्तानस्ताखिलदुरितनिस्तारसरणीन्॥
निलिम्पैर्निर्मुक्तानपि च निरयान्तर्निपतितो-।
नरानंम्बत्रातुं त्वमिह परमं भेषजमसि॥ गं० लं०
समृद्धं सौभाग्यं सकल वसुधायाः किमपि तत्।
महैश्वर्यं लीला जगति जगतः खण्ड परशोः॥
श्रुतीनां सर्वस्वं सुकृतमथ मूर्त सुमनसां।
सुधासाम्राज्यं ते सलिलमशिवं नः शमयतु॥
तवोत्सङ्गे गङ्गे यदि पतितकायस्तनुभृताम्।
तदा मातः शातक्रतवपदलाभोऽप्यतिलघुः॥ (शंकर)
विशालाभ्यामाभ्यां किमिह नयनाभ्यां फलमसौ।
न याभ्यामालीढः परमरमणीया तव तनुः॥
अयं तु न्यक्कारः श्रवणयुगलस्य त्रिपथगे।
यदन्तर्नायातस्तव लहरिलीलाकलकलः॥

पर ऐसा प्रभाव विशेष है। कारण कि वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। राम कृष्ण साम्य की साम्य-भक्तिभावनात्मक छन्द—

धीवर कौं सखा है सनेही वनचरन कौं,
गीध हूँ को बन्धु सवरी को मेहमान है।
पांडव कौ दूत सारथी है अरजुन हू कौ,
छाती विप्रलात कौं धरैया तजिमान है॥
ब्याध अपराध-हारी स्वान समाधानकारी,
करै छुरी दारी, बलि हू कौं दरबान है।
ऐसो अवगुनी ताके सेइबे कौ तरसत,
जानियै न कौन सेनापति के समान है॥ ५—२६

यहाँ पर सामान्यरूप से दोनों को नारायण का रूप दिया गया है किन्तु दूसरे छन्द में पूर्ण साम्य है। यथा—

बानरन राखै तोरि डारत है अरि लंकै;
जाके बीर लछ्मन बिराजत निदान है।
अंगन कौं राखै बाहु दूरि करै दूषन कौं;
हरि सभा राजै राज तेज कौं निधान है॥
आनँद मगन दृग देखि जाहि सियरानी;
सेनापति जाके हेम नगर को दान है।
महाबली बीर बसुदेव कौ कुँवर कान्ह;
सो तो मेरे जान राजा राम के समान है॥ १—५७

एवम्—पूरत है कामैं सत्यभामा सुखसागर हैं,
पारिजात हू कौं जीतिलेत जोर करकै।
सदा सुख सोहैं सेनापति बलवीर धीर,
राखत बिजय बाजी मध्य जो समर कै।
रूप है अनूप सुर मुनी कौं बसीकरन,
जाकौ बैन सुने चैन होत नरवर कै।
नंदन नरिंद दशरथजू कौं रामचन्द,
ताके गुन मानौ बसुदेव के कुँवर कै॥ १—६६

इनमें राम, कृष्ण के लिए समान शब्द प्रयुक्त हुए हैं और विष्णु अवतार के रूप में समता घटित की गई है। दोनों की कल्याणकारिणी शक्ति के प्रति सेनापति के हृदय में श्रद्धा है। पांचवीं तरंग के १५,१६,२०,२७,३१ छन्दों में इसी भांति की समता का आभास मिलता है। अन्यत्र भी सेनापति की द्वयर्थी प्रकृति का परिचय पाया जाता है।

ऋतुवर्णन और श्लेषवर्णन में दो-दो तीन-तीन वस्तुओं का साम्य किया गया है यह संस्कृत साहित्य का ही प्रभाव है। यथा—

१—देखी एक बाल रागमाला सी लसति है—१ त० १८ छं०
२—प्यारी कतौ गेह की निदान समादान है—१ त० १९ छं०
३—मेरे जान बाला नव ग्रहन की माल है—१—३१
४—भारत की अनी किधौं बनी वर नारी है—१—३५
५—दाता और सूम दोऊ कीने इकसार हैं—१—४०
६—कलि के गुसाईं मानौ मंगना समान है—१—४६
७—भीषम विषम बरषा की समकर्‌यौ है—१—५३
८—याहि तै बुढ़ापौ कलिकाल के समान है—१—५४
९—हरि रवि अरुन तमी कौ बरनत है—१—७४

इत्यादि छन्दों में सेनापति ने उसी परम्परा को अपनाया है जो उन्होंने संस्कृत से दाय-रूप में प्राप्त किया था।

दैन्य-भाव

इस बात को हम सेनापति की जीवनी के सम्बन्ध में कह आए हैं कि वे बड़ी गर्विष्ठ-प्रकृति के थे और उनकी उस प्रकृति का परिचय भी हम दे चुके है; किन्तु जब कभी उनके हृदय में भक्ति-भावना प्रबल होती है तब वे तार्किक न बनकर गर्व से हटकर प्रभु के सामने अपने को दीन-हीन समझने लगते हैं। यह दीनता उनके स्वहृदय की उपज है। दैन्य-भावना हृदय की वह स्थिति है जिसमें भक्त अस्तित्व भूलकर अनन्य-श्रद्धा के साथ अपने उपास्य-देव की लोकोपकारक एवं जनोद्धारक शक्ति का महत्त्व स्वीकारकर अपने अहं को त्याग देता है। ऐसी स्थिति में वह अपने को दास तथा प्रभु के नमक से पला हुआ समझने लगता है। उसके लिए सब कुछ उपास्य ही हो जाता है।

सेनापति पाल्यौ है तिहारे एक लोन कौ।
हम तो पुकार एक तोहि सों करत हैं।
तौब हम तरिबे कौं तेरे पैंड़े परे हैं।

सेनापति का गर्व भक्ति में इतना मन्द पड़ गया कि जो 'रूखे सौं अधिक रूखे' थे वही राम के दरबार में (भक्तों का) जूते पोंछनेवाला भी बन जाता है।

सेनापति निरधार पाया पोस बरदार,
हौं तो राजा रामचन्द्रजी के दरबार को॥

यह है दैन्य का उत्कृष्टभाव। जब तक भक्त अपने को समर्थ समझता है तथा उसमें दैन्य-भावना नहीं आती तब तक वह उपास्य की शक्तियों का कोरा वर्णन करता है।

उसमें काव्यत्त्व भले ही हो किन्तु हृदय की तल्लीनता नहीं रहती। हृदय की तल्लीनता दैन्य के लिए परमावश्यक है—तभी "त्वदीयं वस्तु गोविन्द, तुभ्यमेव समर्पये।" की पुष्टि होती है और भक्ति का अभ्युदय होने पर भक्त अपने समस्त कार्य भार को प्रभु के ऊपर छोड़ देता है। उसकी इस निष्कामता में सन्तोष और श्रद्धा का सम्मिश्रण रहता है।

भक्ति के क्षेत्र में सेनापति का हृदय ग्लानि और पश्चात्ताप से युक्त दीख पड़ता है, जिसके कारण उनकी गर्विष्ठप्रकृति परिवर्तित हो जाती है। इन सब बातों से यह प्रमाणित हो जाता है कि सेनापति के काव्य में भक्तिभावनोचित-दैन्य का परिपाक भी समुचित और पर्य्याप्त है।

सेनापति की बहुज्ञता

क्षेमेन्द्र कवि का कहना है कि कवि के लिए अनेक विषयों से परिचित होना अनिवार्य है बात ठीक भी है। कवि को बहुविषयज्ञ होना ही चाहिए। बहुज्ञता से उसके काव्य में हृदय और बुद्धि का सुन्दर संतुलन रहता है।

सेनापति ने संगीत, वैद्यक, ज्योतिष, तर्कशास्त्र, न्याय, वेदान्त और पुराणों के तत्त्वों का संकेत अपने कवित्तो में दिया है। साथ ही राजभवनों के रीति-रिवाज और आनन्द-प्रमोद की सामग्री का भी ज्ञान सेनापति की बहुज्ञता को व्यक्त करता है।

*　　*　　*　　*

संगीत—लीने सुघराई संग सोहत ललित अंग,
सुरत के काम के सुघर की बसति है।
गौरी, नवरस, रामकली, है सरस सोहैं,
सूहे के परस कलियान सरसति है॥
सेनापति जाके बाँके रूप उरझत मन,
बीना मैं मधुर-नाद-सुधा बरसति है।
गूजरी झनक झाँझ सुभग तनक हम,
देखी एक बाला रागमाला सी लसति है॥ १—१८

इसमें गौरी, रामकली, कल्याण, गूर्जरी आदि रागों के नाम आए है जो सार्थकता के साथ हैं, और बाला को रागमाला की नीति समता में रखा गया है। जिन रागों के जो गुण हैं उन गुणों की समता बाला में देखी गई है।

वैद्यक आभास

घर के रहत जाके सेनापति पैयै सुख;
जातैं होत प्रान समाधान भलीभांति है।

जाकी सुभ-गति देखे मानियै परम रति ;
नेक बिन बोले सुधि बुधि अकुलाति है ॥
देखत ही देखत बिलानी आगे आँखिन के ;
कर गहि राखी सो न क्यौं हू ठहराति है ।
रस दै कै राखी सरबस जानि बार-बार ;
नारी गई छूटि जैसे नारी छूटि जात है ॥ १—७२

इसमें नाड़ी ज्ञान का तत्त्व और नाड़ी देखकर प्राणों की गति के चाल परखने की बात और तदनुकूल मकरध्वज, मालती वसन्त इत्यादि रस देने की बात कही गई है जो वैद्यक के ज्ञान से सम्बन्ध रखती है ।

क्षय रोग की औषधि की ओर भी सेनापति ने संकेत किया है । चरक में लिखा है

वासायां विद्यमानस्य आशायां जीवितस्य च ।
रक्ती, पित्ती, क्षयी कासी किमर्थमनसीदति ॥

(वासा = अरूसा) अरूसे के रसपान से रक्तपित्त और कासरोग दूर होता है । तथा रक्त बढ़ाने के लिए पीलेपान के पत्ते उत्तम होते हैं ।

सेनापति ने लिखा है—पीरे पान खाइ नीरैं चूकि कै न जाइ मान ।
(त्रयी) खई मिटि जायगी अरूसे ही के रस मैं ॥

और पुट-पाक की चर्चा भी सेनापति ने कई स्थलों पर की है । १ तरंग के ९३वें छन्द में ईख को पित्त प्रकोप घटानेवाली और पाचनशक्ति को बढ़ानेवाली कहा गया है ।

१ त० के ९५वें छन्द में नेत्रांजन बनाने की विधि भी है जिसमें आँख के फूले (फूली) को काटने तक की शक्ति है । आँख के अन्य विकारों को नष्ट करनेवाले अंजन की समता गंगाजल के मंजन से की गई है । सेनापति ने इस अञ्जन की प्राप्ति पुण्य-प्रताप से बताई है और अंजन बनाने की विधि भी बता दी है ।

ज्योतिष—अरुन अधर सोहै सकल बदन चन्द ;
मंगज दरस बुध बुद्धि कै विशाल है ।
सेनापति जासौं जुव जन सब जीवक हैं ;
कवि अति मन्द गति चलति रसाल है ॥
तम है चिकुर केतु, काम की विजय निधि ;
जगत जगमगत जाके जोति जाल है ।
अंबर लसति भुगवति सुख रासिन कौं ;
मेरे जान बाल नवग्रहन की माल है ॥

इसमें नवग्रहों के नाम हैं उनकी कार्यपद्धति की ओर भी संकेत है। कौन ग्रह कितनी राशियों का भोग करने के पश्चात् सुख देता है किस राशि पर वह किस भांति का सुख देता है, ज्योतिष के इस सूक्ष्मविवेचन का आभास भी सेनापति ने दिया है। तर्क, वेदान्त और पुराणों का ज्ञान सेनापति की प्रथम व पांचवीं तरंग के अध्ययन से मिलता है। व्यावहारिकता की बहुज्ञता का आभास २ री तरंग से मिलता है और राज भवनों की परिस्थिति का ज्ञान ३ रे के ऋतुवर्णन में मिलता है। विलास-वैभव का परिचय उन्होंने–३ तरंग के ६,७,१३,१४,१७,१६,२०,४३,६१ इन छन्दों में किया है। इन छन्दों के पढ़ने से विदित होता है कि सेनापति ने सफलतापूर्वक राजसी वातावरण का भी वर्णन किया है। सेनापति राजदरबारों के नियमों को भी जानते थे, इसका आभास अंगद-रावण-सवाद और हनुमान् के प्रकरण में उन्होंने दिया है।

ग्रीष्म-ऋतु में षड्ऋतुयें सेनापति को कहीं देखने को मिलीं तो राज भवनों में—

छूटत फुहारे सोई बरसा सरस रितु ;
और सुखदाई है सरद छिरकाइ की।
हेमन्त सिसिर हूं तैं सीरे खस खाने, जहाँ;
छिन रहै तपति मिटति सब काइ की॥
फूले तरुवर, फुलवारी फूल सौं भरत ;
सेनापति शोभा सो वसन्त के सुभाइ की।
ग्रीषम के समै साँझ, राजमहलन माँझ ;
पैयति है सोभा षट्-रितु समुदाय की॥

यह सब सेनापति की बहुज्ञता का ही फल है जिसके कारण वे उपयुक्त भाषा द्वारा सत्यता के साथ सभी प्रकार के ज्ञान को काव्य-कला का रूप दे सके हैं।

यथोचित भावनाओं का मार्मिक व्यङ्ग्यचित्र सजीवभाषा में साकार कर देना बहुज्ञता का और भाषाधिकारिता का सराहनीय सफल परिचय है।